जैन भारती

नवम्बर 2013 • वर्ष 61 • अंक 11 • वार्षिक रु. 200.00

जगद्वंद्यः स्वामी विशद चरितो नाम तुलसी

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी 2013-2014

In Memory of

Late Sh. Sohan Lal Kataria

Wife Smt. Sunderbai

Son Manubhai, Praveenkumar, Janak, Yogesh

Vimal, Vikash, Vinay, Vishal, Gouraw, Chirag

Manav, Yash Kataria

Banglore, Mysore, Bemali (Raj.)

MD : VIMAL KATARIA (JAIN)
MD : MADHU KATARIA (JAIN)

VAISHNODEVI LUSH GREENS PRIVATE LIMITED

No. 13, Muthachari Industrial Estate, Nayandhalli
Mysore Road, Bangalore 560 039
e-mail : info@vaishnodeviproperty.com
Phone : 080-23146429, Mobile : 96207 99999

जैन भारती

वर्ष 61 • नवंबर, 2013 • अंक 11

संपादक
डॉ. शान्ता जैन

आवरण
गौरीशंकर

अनुक्रम

1.	अणुव्रत का दिशा-दर्शन		4
2.	आत्मा के आसपास	आचार्य तुलसी	7
3.	क्या वह युग आ सकता है?	आचार्य महाप्रज्ञ	11
4.	इंद्रधनुषी व्यक्तित्व		15
5.	महावीर का सच्चा स्मारक		18
6.	जीवन की स्वस्थ शैली		20
7.	शांति का उत्स है संयम		21
8.	पारिवारिक सौहार्द के अमोघ सूत्र		22
9.	चुनाव की प्रक्रिया		25
10.	कुछ अनछुए प्रसंग		28
11.	हर प्रसंग–प्रेरणा बन गया		33
12.	दीक्षा की कसौटी : योग्यता या अवस्था		41
13.	मन के अंधेरों को उजालने वाला महासूर्य		43
14.	अंतरंग क्षण : गुरु और शिष्य के		49
15.	विलक्षण गुरु के विलक्षण शिष्य		55
16.	नया दायित्व : नया प्रस्थान		59
17.	महासभा का शताब्दी वर्ष		63

संपादकीय संपर्क सूत्र : डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 341306
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/-• त्रैवार्षिक 500/-• दसवर्षीय 1500/-रुपए
* Contact us at: jainbharatitms@gmail.com

अणुव्रत का दिशा-दर्शन

- जीवन की न्यूनतम मानवीय आचार-संहिता अणुव्रत है।
- अणुव्रत चरित्र-निर्माण और जीवन-विकास का आंदोलन है।
- असांप्रदायिक एवं सार्वभौम धर्म का घोषणापत्र है–अणुव्रत।
- मूल्य-परिवर्तन की दिशा में उठा हुआ एक कदम है–अणुव्रत।
- कथनी-करनी की दूरी कम करने का नाम है–अणुव्रत।
- अपराध-चेतना को बदलने का आंदोलन है–अणुव्रत।
- प्रामाणिक जीवन जीने की सीधी-सी प्रक्रिया का नाम है–अणुव्रत।
- विचार और आचार के बीच सेतु का काम करने की प्रक्रिया है–अणुव्रत।
- अहिंसा, शांति, पवित्रता और चरित्र का उद्गम स्थल है–अणुव्रत।
- आत्मा की स्वतंत्र-चेतना के द्वारा व्यक्ति-निर्माण का मार्ग है–अणुव्रत।
- नैतिक जीवन जीने की इच्छा रखने वालों का गुरु है–अणुव्रत।
- वैचारिक क्रांति की पृष्ठभूमि पर उभरने वाला जीवंत प्रयोग है–अणुव्रत।
- मैत्री और संयम से अपने आपको पाने का मार्ग है–अणुव्रत।
- भोग और वासना को सीमित करता है–अणुव्रत।
- हिंसा एवं अशांति से भरे वातावरण में शांति की अमोघ औषधि है–अणुव्रत।
- जीवन के साथ मूल्यों को जोड़ने का एक छोटा सा उपक्रम है–अणुव्रत।
- मन को स्वस्थ और संतुलित रखने का एक सबल उपक्रम है–अणुव्रत।
- अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का एक छोटा सा उदाहरण है–अणुव्रत।
- अणुव्रत का उपास्य कोई व्यक्ति या ईश्वर नहीं, इसका उपास्य है–व्रत।
- धर्म की मौलिकता को उजागर करने का पवित्र उद्देश्य है–अणुव्रत।

पारदर्शी गाम्भीर्य तुम्हारा
देख चकित जग सारा।
तुम्हें समझने में लग जाए
जनम जनम का फेरा।
कद इतना ऊंचा है छूने
मन पड़ जाता बौना।
इसीलिए तुमको कहने में
शब्द-अर्थ अधूरा।।

श्रद्धाप्रणत

संपादक : मुमुक्षु शान्ता जैन

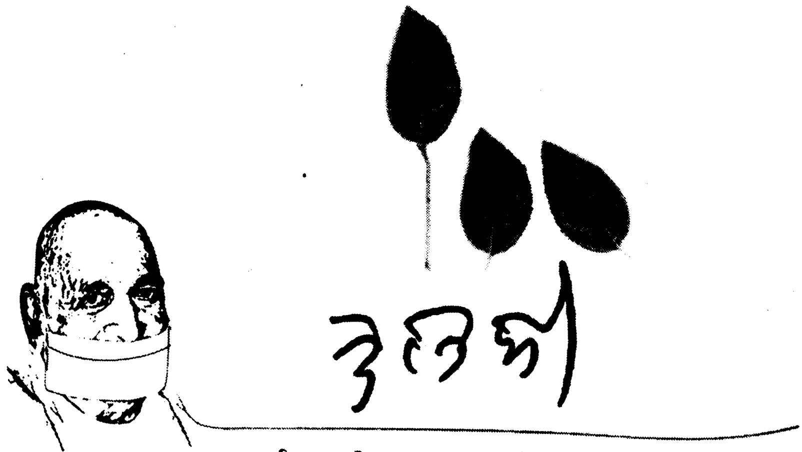

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी समारोह 2013 - 2014

पुरुष होना सामान्य बात है और महापुरुष होना विशिष्ट बात है। जीवन जीना एक बात है और कला पूर्ण, उपयोगिता पूर्ण और परोपकार परायण जीवन जीना विशिष्ट बात है। यह वैशिष्ट्य जिस व्यक्ति में उभरता है, वह पुरुष से महापुरुष बन जाता है। उसका जीवन जन-जन के लिए प्रेरणा स्रोत एवं दिशा सूचक यंत्र की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। पर काल के अनंत प्रवाह में इस कोटि के व्यक्तित्व विरले होते हैं। इस अर्थ में बीसवीं सदी सौभाग्यशालिनी है कि उसे गणाधिपति तुलसी के रूप में इस कोटि के व्यक्तित्व का सान्निध्य एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ।

आचार्य महाश्रमण

आत्मा के आसपास

आचार्य तुलसी

संस्कार-परिवर्तन

72. आत्म-निरीक्षण से जुड़े, प्रायश्चित्त उदार।
तभी बदलता वस्तुतः, चिर अर्जित संस्कार।।

अध्यात्मनिष्ठा का एक महत्त्वपूर्ण घटक है आत्मनिरीक्षण की वृत्ति। आत्मनिरीक्षण करनेवाला अपनी अच्छाइयों को देखता है, साथ ही अपनी भूलों को भी देखता है। भूलों को देखने और अनुभव करनेवाला व्यक्ति ही उनका परिष्कार कर सकता है। परिष्कार के लिए प्रायश्चित्त का योग अपेक्षित है। हेय प्रवृत्ति के साथ प्रायश्चित्त की बात जुड़ने पर ही दीर्घकाल से संचित संस्कारों में बदलाव होता है।

73. परिवर्तन संस्कार का, सरल नहीं है काम।
मूर्ख चला था बदलने, केवल अपना नाम।।

संस्कारों को बदलना सरल काम नहीं है। एक मूर्ख व्यक्ति अपना नाम बदलने के लिए गांव छोड़कर चला, किंतु संस्कार-व्यवहार नहीं बदलने के कारण वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो पाया। पूरा घटनावृत्त इस प्रकार है—एक गांव में कोई मूर्ख आदमी रहता था। उसके मूर्खतापूर्ण व्यवहार को देखकर लोग उसे मूर्ख कहने लगे। इससे वह दुःखी हो गया। उसने सोचा—इस गांव के लोग मुझे मूर्ख कहकर मेरा अपमान करते हैं। मैं कोई अच्छा काम करता हूं तो भी यह उपाधि मुझसे छूटती नहीं है, क्योंकि मेरा यही रूप सबके मन में जम गया है। इसलिए मैं दूसरे देश में चला जाऊं तो मेरा नाम बदल जाए। लगभग तीन सौ किलोमीटर की यात्रा तय करके वह परदेश पहुंचा। उसे प्यास लग गई। वह किसी गांव के बाहर एक कुएं के निकट ठहरा। कुएं के पास ही नल लगा हुआ था। वह नल खोलकर पानी पीने लगा। उसकी प्यास बुझ गई। प्यास बुझने के बाद नल बंद करने की बात वह सोच नहीं सका। उसे अब पानी की जरूरत नहीं है, यह बताने के लिए वह सिर हिलाने लगा।

उसे यों सिर हिलाते देखकर नल के पास खड़े एक व्यक्ति ने कहा—'मूर्ख! यह क्या कर रहे हो?' मूर्ख व्यक्ति को आश्चर्य हुआ। वह बोला—'भाई साहब! आपने मेरा नाम कैसे जाना?' वहां खड़े व्यक्ति ने कहा—'तुम्हारे कारनामों से।' इस घटना से प्रमाणित होता है कि संस्कार-परिवर्तन का कार्य बहुत कठिन है।

74. अंतर में संस्कार हैं, अंतरंग आयास।
परिवर्तन के क्षण तभी, लेते हैं उच्छ्वास।।

संस्कारों का संबंध कर्म शरीर के साथ है। वह बाहर दिखाई नहीं देता, किंतु उसका प्रभाव समूचे जीवन पर पड़ता है। **'धुणे कम्मसरीरगं'**—कर्म शरीर को प्रकंपित करने की बात पर इसीलिए बल दिया गया है। कर्म शरीर के निर्जरण से संस्कारों का रेचन होता है। ये संस्कार अंतरंग संस्कार हैं। बाह्य प्रयत्न से इनमें बदलाव की संभावना नहीं है। इन्हें बदलने के लिए अंतरंग प्रयत्न की अपेक्षा है। अंतरंग प्रयत्न होने पर ही संस्कार-परिवर्तन की कल्पना साकार हो सकती है।

75. बंधा हुआ है आदमी, फिर भी सदा स्वतंत्र।
बंध-मुक्ति का मर्म यह, है जीवन का मंत्र।।

मनुष्य कर्मों से बंधा हुआ है। फिर भी एक अपेक्षा से वह सदा स्वतंत्र होता है। बंधन-मुक्ति का यही रहस्य है। यदि व्यक्ति पुरुषार्थ के प्रयोग में स्वतंत्र न हो तो कर्मों का वलय टूट नहीं सकता। यह बोध जीवन का सबसे बड़ा मंत्र है। मनुष्य जैसे कर्मों से बंधा हुआ है, उसका व्यवहार वैसा ही हो जाता है, यह सचाई है। इसमें विश्वास होने पर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कर्तृत्व की अपेक्षा मनुष्य सदा स्वतंत्र है। उस स्वतंत्रता का उपयोग करने वाला अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों के फल को भी बदल सकता है। यदि कर्मों के फल को भोगने की अपरिहार्यता मान ली जाए तो परिवर्तन की संभावना ही समाप्त हो जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि कहीं कर्म बलवान होते हैं और कहीं जीव। यह पारिणामिक भाव है। इसकी विचित्र परिणतियां स्वाभाविक है।

76. रहता कर्म-विपाक में, प्रिय अप्रिय से मुक्त।
है रहस्य यह मुक्ति का, सम्यग्दर्शनयुक्त।।

कर्मों की स्थिति का परिपाक होने पर वे अपना फल देते हैं। कर्मों का फल भोगते समय प्रिय एवं अप्रिय संवेदन से मुक्त रहना बंधनमुक्ति का रहस्य है। इसे सम्यग्दृष्टि-संपन्न व्यक्ति ही जान सकता है।

कर्म चेतना, ज्ञान चेतना और कर्म फल की चेतना अलग-अलग होती है। कर्म का फल कैसे भोगना? यह ज्ञान का सबसे बड़ा मर्म है। ज्ञान चेतना विकसित होने के बाद कर्म का फल भोगते समय प्रियता और अप्रियता के संवेदन निष्क्रिय हो सकते हैं। कहा भी है–'ज्ञानी भुगतै ज्ञान सूं मूरख भुगतै रोय'। कर्म का अनिष्ट फल भी विधायक भाव से भोगा जाए तो वह धर्मध्यान का हेतु बन जाता है।

कर्म-परिणतियां

77. रंगमंच यह विश्व है, अभिनयकर्ता जीव।
सूत्रधार पुद्गल बना, बदले दृश्य अतीव।।

संसार में परिवर्तन क्यों हो रहा है? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया जाए तो परिवर्तन के साथ तीन तत्त्वों का योग परिलक्षित होता है। विश्व एक रंगमंच है। यह न हो तो अभिनेता अभिनय कहां करे? अभिनेता जीव है, जीवन के व्यंजन पर्याय है। नाटक का संचालन करनेवाला सूत्रधार कर्म है। कर्म-पुद्गलों के कारण ही रंगमंच पर बदलते हुए दृश्य दिखाई देते हैं।

78. कोई आवारक बना, मोह विकारक स्पष्ट।
अंतराय प्रतिघात कर, देता अनगिन कष्ट।।

कर्मों के दो विभाग हैं–घात्य कर्म और अघात्य कर्म। घात्य कर्मों को उनके कार्य के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–आवारक, विकारक और विघातक। ज्ञान और दर्शन को आवृत करने के कारण ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म आवारक हैं। आत्म गुणों को विकृत बनाने के कारण मोहनीय कर्म विकारक है। अंतराय कर्म इष्ट की उपलब्धि में बाधक बनता है, इसलिए उसे विघातक माना गया है। इन कर्मों के कारण आत्मा को अनेक प्रकार के कष्ट प्राप्त होते हैं। इनको क्रमशः आंख की पट्टी, चपरासी, मद्यप मनुष्य और भंडारी से उपमित किया गया है।

79. संवेदन सुख-दुःख का, होता है दिन-रात।
वेदनीय अनुभाव से, आमय का अभिघात।।

प्राणी को दिन-रात सुख-दुःख का संवेदन होता रहता है, यह वेदनीय कर्म का प्रभाव है। सुख का वेदन सात वेदनीय कर्म के उदय से तथा दुःख का संवेदन असात वेदनीय कर्म के उदय से होता है। शरीर किसी भी बीमारी से आक्रांत होता है, उसमें असात वेदनीय कर्म का उदय ही प्रमुख कारण है। वेदनीय कर्म की तुलना मधुलिप्त तलवार की धार से की गई है।

80. जीवन की सीमा बनी, आयु कर्म है हेतु।
यही वस्तुतः बन रहा, वय-परिवर्तन-सेतु।।

संसार में जितने प्राणी हैं, उन सबके आयुष्य की सीमा है। कोई भी संसारी प्राणी असीम आयुष्य लेकर जन्म नहीं लेता। आयु का सीमांकन करनेवाला कर्म आयुष्य कर्म कहलाता है। जीवन में अवस्थागत परिवर्तन का वास्तविक कारण यही कर्म है। इसको काष्ठनिर्मित घोड़े की उपमा दी गई है।

81. चित्रकार बन कर रहा, नाम कर्म नव चित्र।
कुंभकार बन गोत्र भी, करता कुंभ विचित्र।।

82. कुंभकार बन कर रहा, नाम विविध निर्माण।
चित्रकार सम गोत्र है, नाना रंग-विधान।।

नाम कर्म चित्रकार के रूप में नए-नए चित्रों का निर्माण करता है। गोत्र कर्म कुंभकार की तरह विविध प्रकार के कुंभ बनाता रहता है।

एक अभिमत के अनुसार नाम कर्म को कुंभकार और गोत्र कर्म को चित्रकार से उपमित किया गया है। नाम कर्म कुंभकार बनकर विविध प्रकार के निर्माण में संलग्न रहता है। गोत्र कर्म चित्रकार की भूमिका पर खड़ा होकर जीवन घट में अनेक प्रकार के रंग भरता रहता है। कर्म कुंभकार की तरह विविध प्रकार के कुंभ बनाता रहता है।

कोई भी जीव देव, मनुष्य, तिर्यंच या नारक शरीर का निर्माण करता है, उसमें नाम कर्म निमित्त बनता है। उक्त चारों गतियों के योग्य शरीर में रहने वाला प्राणी कभी प्रतिष्ठित होता है और कभी उपेक्षित हो जाता है। उसके प्रति अच्छा और बुरा दृष्टिकोण पैदा करने में गोत्र कर्म का हाथ है।

अनासक्ति की साधना

83. निराहार के विषय छूटते, किंतु नहीं होते रस व्यक्त।
रस का तब विनिवर्तन होता, जब होता परमात्मा व्यक्त।।

आहार का परित्याग करने से इंद्रियों के विषय-पदार्थ छूट जाते हैं। विषय छूटने मात्र से आसक्ति भी छूट जाए, ऐसा कोई नियम नहीं है। आसक्ति तब छूटती है, जब भीतर परमात्मा जागता है, अंतर्मुखता का विकास होता है। प्रस्तुत भावों का प्रतिपाद्य अग्रांकित श्लोक में गुंफित है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

84. शक्य नहीं है शब्द न सुनना, खुले श्रोत्र के हैं जब द्वार।
शक्य यही है हो न शब्द में, द्वेष-राग का अनुसंचार।।

श्रोत्र इंद्रिय के द्वार खुले रहें और शब्द सुनाई न दे, यह शक्य नहीं है। कानों द्वारा सुने जानेवाले शब्दों के प्रति राग-द्वेष के भाव न आएं, यह शक्यता की स्थिति है। साधक इनसे बचने का प्रयास करे।

85. शक्य नहीं है नहीं देखना, खुले चक्षु के हैं जब द्वार।
शक्य यही है हो न रूप में, द्वेष-राग का अनुसंचार।।

चक्षु इंद्रिय के द्वार खुले रहें और रूप दिखाई न दे, यह शक्य नहीं है। आंखों द्वारा देखे गए रूप के प्रति राग-द्वेष के भाव न आएं, यह शक्यता की स्थिति है। साधक इस विषय में सजग रहे।

86. शक्य नहीं है नहीं सूंघना, खुले घ्राण के हैं जब द्वार।
शक्य यही है हो न गंध में, द्वेष-राग का अनुसंचार।।

घ्राण इंद्रिय के द्वार खुले रहें और गंध का अनुभव न हो, यह शक्य नहीं है। नासिका द्वारा गृहीत सुगंध के प्रति राग के भाव और दुर्गंध के प्रति द्वेष के भाव न आएं, यह शक्यता की स्थिति है। साधक इनसे बचे।

87. शक्य नहीं है रसनेन्द्रिय से, आये ना रस का आस्वाद।
शक्य यही है हो न रसों में, द्वेष-राग-मय विषम विवाद।।

रसनेंद्रिय के द्वार खुले हों और रस का आस्वाद न आए, यह शक्य नहीं है। जीभ द्वारा चखे जानेवाले रस के प्रति राग-द्वेष के भाव न आएं, यह शक्यता की स्थिति है। साधक इस विषय में जागरूकता बरते।

88. शक्य नहीं संवेदन ना हो, मुक्त त्वगिंद्रिय के जब द्वार।
शक्य यही है हो न रूप में, द्वेष-राग-मय अनुसंचार।।

स्पर्शनेंद्रिय के द्वार खुले हों और स्पर्श का संवेदन न हो, यह शक्य नहीं है। त्वचा द्वारा छुए गए पदार्थों के प्रति राग-द्वेष के भाव न आएं, यह शक्यता की स्थिति है। साधक इस दिशा में सचेष्ट रहे।

दोहा

89. सन् नय्यासी लाडनूं, प्रज्ञापर्व विशिष्ट।
श्रमणसंघ का संतुलित, है निर्माण अभीष्ट।।

ईस्वी सन् 1989, लाडनूं में योगक्षेम वर्ष मनाया गया। उस वर्ष की रचनात्मक प्रवृत्तियों को 'प्रज्ञापर्व' की संज्ञा दी गई। उसकी आयोजना का उद्देश्य था श्रमणसंघ का संतुलित निर्माण-आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण।

90. नियमित कक्षाएं चलीं, दिन में विविध प्रकार।
निशि 'अध्यात्मपदावली', 'गाथा' आगम-सार।।

व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से दिन में नियमित कक्षाओं का आयोजन और रात्रि में साहित्य सृजन का उपक्रम। प्रस्तुत कृति अध्यात्म पदावली का प्रणयन तथा आगमों के आधार पर भगवान महावीर के जीवन-दर्शन रूप में 'गाथा' ग्रंथ का संकलन उस वर्ष की विशिष्ट उपलब्धियां हैं।

91. आध्यात्मिक उन्नयन ही, 'तुलसी' है आदेय।
हो लक्ष्योन्मुख चेतना, सधे सहज ही श्रेय।।

आध्यात्मिक विकास हमारे लिए उपादेय है। अन्यान्य विकासों को गौण नहीं किया जा सकता, पर वे सब परिधि में रहें। हमारा केंद्रीय लक्ष्य आध्यात्मिक विकास है। यह लक्ष्य निरंतर सामने रहे तो सहज ही श्रेयस् की सिद्धि हो सकती है। (समाप्त)

क्या वह युग आ सकता है?

आचार्य महाप्रज्ञ

ऋषभायन-4

चेतना को बदले बिना समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था और अर्थव्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। जिस प्रकार की चेतना उस प्रकार की व्यवस्था। मानना यह चाहिए—व्यवस्था चेतना का प्रतिबिंब है, प्रतिफलन है। वेदांत का मत है—सारी सृष्टि ब्रह्म का प्रतिबिंब है। इस मत से असहमति हो सकती है। किंतु यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि सारी व्यवस्थाएं चेतना का प्रतिबिंब हैं। जिस प्रकार की मानव की चेतना होती है वैसी ही व्यवस्था होती है। आखिर व्यवस्था करता कौन है? मनुष्य करता है। किसके द्वारा करता है? चेतना के द्वारा करता है। जैसी मनोदशा, जैसी चेतना उसी प्रकार की व्यवस्था होगी।

यौगलिक युग में जो चेतना थी वह अहिंसक समाज या स्वस्थ समाज की रचना के बहुत अनुकूल थी। उस समय का वातावरण भी वैसा था, परिस्थितियां भी वैसी थी। दोनों का सुंदर योग था।

पूछा गया—'भंते! उस समय में क्या ये कांटे, घास-फूस और कचरा था?'

उत्तर दिया गया—'नहीं था। बिलकुल साफ-सुथरा प्रांगण था, ये कांटे बिछे हुए नहीं थे।'

दूसरा प्रश्न आया—'क्या उस समय कोई दास, भृत्य थे? नौकर-चाकर थे?'

कहा गया—बिलकुल नहीं। न कोई स्वामी और न कोई सेवक। हर आदमी अपना मालिक और अपना ही नौकर।

प्रत्येक आदमी स्वावलंबी था। न किसी दूसरे से काम लेना, न किसी दूसरे की सेवा लेना। उस समय तक आवश्यकता भी नहीं थी। सब काम पेड़ों से चलता था। पेड़ उनका सहयोग करते। अगर सहायक मानें तो वृक्षों को माना जा सकता है। वृक्षों के सिवाय और कोई सहायक नहीं था। न दास था कोई। यह दासप्रथा भी बाद में चली है। भगवान महावीर के समय में दासप्रथा प्रचलित थी। दास बनाये जाते थे किंतु ऋषभ का पूर्ववर्ती समय इस समस्या से मुक्त था। उस समय कोई किसी का दास नहीं था। न प्रेष्य था, जिससे काम लिया जाए। संवाद भेजना है, कोई वस्तु मंगाना है तो प्रेष्य को

प्रेषित किया जाता है। न किसी के साथ संवाद भेजने की जरूरत, न कोई बात करने व समाचार मंगाने की जरूरत। पूरा स्वावलंबन और पूरी स्वतंत्र चेतना।

स्व-स्वामी संबंध कल्पित,
नहीं अपेक्षित सेवा-कर्म।
नहीं बड़प्पन की आकांक्षा,
सबका अपना अपना धर्म।।

एक प्रश्न आया–'भंते! इतना अच्छा वातावरण था तो क्या उस समय दंश, मच्छर, खटमल थे?' उत्तर दिया–'मच्छर नहीं थे, खटमल भी नहीं थे।'

मच्छर और खटमल बहुत सताते हैं, आदमी को नींद नहीं लेने देते। मक्खियां दिन में सताती हैं, मच्छर रात को सताते हैं और दिन में भी। मच्छर और खटमल दोनों हो जाए तो स्थिति बहुत जटिल बन जाती है।

मक्खी, मच्छर, खटमल उस समय नहीं थे। गंदगी भी नहीं थी। गंदगी के बिना जीवों को पनपने का मौका नहीं मिलता। गंदगी से बहुत सारे प्राणी पनपते हैं, उन्हें पनपने का अवसर मिलता है। उस समय का वातावरण, भूमि, आकाश–सब निर्मल थे, पवित्र थे। कहीं कोई गंदगी नहीं थी। संभव है कि शौच का भी बहुत कम प्रसंग आया होगा। कितना खाते थे? शरीर तो लंबा चौड़ा और खाना कितना? एक चने की दाल जितना। इस स्थिति में अशुचि होने का बहुत कम प्रसंग आता। सारा वातावरण निर्मल और प्रसन्न था, इसलिए ये जीव नहीं पनपते थे।

पूछा गया–'क्या सांप, अजगर आदि थे?'

कहा गया–'हां, थे किंतु वे काटते नहीं थे।'

'क्यों नहीं काटते थे?'

जहरीले और काटने वाले जानवरों की प्रकृति भी बड़ी भद्र थी। आज तो आदमी की प्रकृति भी भद्र नहीं मिलती। उस समय सांप आदि की प्रकृति भी भद्र थी। इतनी भद्र कि काटना नहीं जानते थे, किसी को सताना नहीं जानते थे।

सिंह बाघ पर हिंस्र नहीं हैं,
आकृति सौम्य, प्रकृति से शान्त।
मच्छर खटमल डांस नहीं हैं,
निरुपद्रव वसुधातल कान्त।।
अजगर सर्प सरीसृप गण है,
पर रहता अपने में लीन।
अभय परस्पर सहज मित्रता,
अपनी गति मति में सब पीन।।

बहुत बड़ी विशेषता है प्रकृति की भद्रता। प्रश्न आया–मनुष्य मरकर मनुष्य बनता है, उसका कारण क्या है? मनुष्य है वर्तमान में और मरकर पुनः मनुष्य बना। उसका कारण क्या है? उसका एक कारण है प्रकृति की भद्रता, सरलता। सरल आदमी दूसरे की बुराई नहीं सोच सकता।

दो शब्द ऐसे हैं जो मानवीय चेतना को बहुत अभिव्यक्त करते हैं–माया, और सरलता। जहां माया है वहां बहुत सारे अनर्थ पनपने का मौका मिलता है। जहां सरलता है वहां कोई अनर्थ पनपता नहीं है। साफ-सुथरा रहता है सारा जीवन।

एक प्रश्न हुआ–'भंते! उस समय यह कलह, युद्ध आदि होते थे?'

उत्तर दिया–'बिलकुल नहीं। युद्ध नहीं होता था, कलह भी नहीं होता था। कोई आदमी लड़ता-झगड़ता नहीं था।' उस समय बहुत शांत प्रकृति थी। न लड़ाई करते, न झगड़ा करते, न कलह होता, युद्ध की तो बात ही नहीं थी। इसका कारण है–उनमें वैर नहीं था। वैर करना जानते ही नहीं थे इसलिए कलह नहीं होता था। कलह होने का कारण घटना नहीं बनती, भीतर का वैर बनता है। मन में वैर है तो लड़ाई का कोई बहाना बन ही जाता है। उनमें वैर-विरोध जैसी कोई बात नहीं थी।

कलह उमर संघर्ष नहीं हैं, नहीं शस्त्र का भी निर्माण।
लगता जैसे पुण्य धरा पर, हुआ प्रतिष्ठित नवनिर्माण।।

एक प्रश्न पूछा–'भंते! उनका स्वास्थ्य कैसा था?

क्या उनके पेट का दर्द होता था? सिर का दर्द होता था? क्या हार्ट अटैक होता था?' अनेक बीमारियों के नाम गिना दिये।

उत्तर मिला—'बिलकुल नहीं होता था। न कोई रोग और न कोई आतंक।' रोग वह होता है जो लंबे समय तक चलता है। आतंक सद्योघाती होता है।

आप कल्पना करें—शरीर हो और रोग न हो, यह कैसे संभव है? चार प्रकार के दुःख माने गए हैं—जन्म लेना दुःख है, मरना दुःख है, बुढ़ापा दुःख है और रोग दुःख है। क्या उस समय आदमी दुःखी नहीं था? बिलकुल नहीं था। जन्म भी बड़ी शांति के साथ और मरना भी शांति के साथ। कोई भी उस समय बीमारी से मरा नहीं। बस एक उबासी ली और कालधर्म को प्राप्त हो गया। न बुढ़ापा था और न रोग। यह कितनी सुखद स्थिति है—शरीर हो, जन्म-मरण हो और दुःख न हो। यौगलिक जीवन में मृत्यु भी सुखद थी और जन्म भी सुखद।

इस प्रश्न पर विमर्श करना जरूरी है—क्या यह संभव है कि शरीर हो और बुढ़ापा न आये? शरीर हो और रोग न आये? यह बहुत संभव है। अवस्था के गणित में तो बुढ़ापा मान लें कि पचास वर्ष में आए, साठ वर्ष में आए, अस्सी वर्ष में आए, सौ वर्ष में आए। झुर्रियां पड़ जाना, आंख की शक्ति कम हो जाना, कान की शक्ति कम हो जाना, बोलने की शक्ति कम हो जाना, काम करने की शक्ति कम हो जाना और खाट को पकड़ लेना—इसका नाम है बुढ़ापा। जहां आहार का संयम, वासना का संयम, भोग का संयम और तनाव से मुक्ति—इतनी बातें होती हैं वहां यह बुढ़ापा नहीं आता।

सन् 1997 में हम लोग लूणकरणसर में थे। उस समय आचार्यश्री तुलसी श्रीडूंगरगढ़ में प्रवास कर रहे थे। श्रीडूंगरगढ़ से लोग आये, बोले—'गुरुदेव तो पूरा श्रम करते हैं। दो-दो घंटा व्याख्यान देते हैं। वही आवाज, वही तेज।'

मैंने कहा—'वही रहेगी। बुढ़ापा आयेगा नहीं। गणित के आंकड़ों में तो आ जायेगा, पर शरीर पर नहीं उतरेगा।'

यदि आदमी संकल्प करे कि मुझे बूढ़ा नहीं बनना है तो वह बुढ़ापे को टाल सकता है। आजकल तो विज्ञान की ऐसी थैरेपी या शाखा चल रही है गेरंटोलॉजी। उसका काम है कि बुढ़ापे को कैसे टाला जाये? मनुष्य में बुढ़ापे को टालने की शक्ति है। वह शक्ति आती है आहार-संयम से, इंद्रिय-संयम से। आहार का संयम नहीं है तो बुढ़ापा जल्दी आएगा। जो आदमी स्वस्थ रहना चाहता है, बुढ़ापे को टालना चाहता है उसे सबसे पहले आहार पर ध्यान देना होता है। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने इस पर ध्यान दिया था। राणावास चातुर्मास (वि. स. 1983) में चीनी का परिहार करना शुरू किया। वह प्रायः जीवन में अंतिम समय तक चलता रहा। आहार-संयम का यह एक निदर्शन है।

सरदारशहर का एक किसान अच्छा संपन्न था। एक दिन लड़का बोला—'बाबा! तुम्हारे लिए मेथी के लड्डू बना दें।'

किसान ने कहा—'देखो, जल्दी मारना हो तो बना दो। मेथी का लड्डू खाऊंगा तो जल्दी मर जाऊंगा। मेथी खिलानी हो तो केवल मेथी दे दो, चबा कर खा लूंगा। मेरे स्वास्थ्य के लिए भी वह अच्छा रहेगा।'

धारणा यह है—सर्दी के मौसम में जितनी गरिष्ठ चीजें खायी जायें, उतना अच्छा है। वस्तुतः इससे स्वास्थ्य खराब होता है, बीमारियां बढ़ती हैं। यौगलिक युग में बुढ़ापा नहीं था, उसका कारण है—आहार बहुत सीमित था। बहुत थोड़ा खाते, वह भी तीन दिन के अंतराल से। न सुबह का नाश्ता और न रात का भोजन। भूख लगती ही नहीं थी। तीन दिन से एक बार खाते और मात्रा इतनी कि छोटा बच्चा भी न खाये। उससे पूरा पोषण मिल जाता। फिर बुढ़ापा कैसे आता?

जो व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है और आहार का संयम नहीं करता, उसे स्वस्थ रहने की बात छोड़ देनी चाहिए। रोग का और खाने का बहुत गहरा संबंध है। बहुत सारी बीमारियां खाने के कारण होती हैं। एक सामान्य नियम है–अन्न खाने के बाद तीन-चार घंटा तक कुछ नहीं खाना चाहिए। उससे पहले खाया जाये तो अध्यशन नामक दोष माना जाता है। चाय और रस भी नहीं पीना चाहिए। कुछ भी न खाएं, पूरा विश्राम मिले तो बीमारी होने की कम संभावना रहती है। आजकल कुछ लोग एक अभियान चला रहे हैं–नाश्ता छोड़ो, सुख से जीओ। कुछ डॉक्टर केवल नाश्ता छुड़ाकर चिकित्सा करते हैं। उसका बहुत अच्छा परिणाम आ रहा है। एक अभियान यह भी चलना चाहिए–रात को मत खाओ। धार्मिक और स्वास्थ्य–दोनों दृष्टियों से यह जरूरी है।

सन् 1974 में भगवान महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी मनाई गयी। पूज्य गुरुदेव दिल्ली में थे। एक दिन दो वैज्ञानिक आये। हमने पूछा–कहां से आये? बोले–बैंगलूरू से आए हैं। वहां आहार और स्वास्थ्य विषय पर कांफ्रेंस चल रही थी। उस कांफ्रेंस में हमारी चर्चा का विषय था आहार और पोषण। चर्चा के मध्य प्रश्न आया–रात को खाना चाहिए या नहीं खाना चाहिए? कुछ लोगों ने सुझाव दिया–जैन लोग रात को नहीं खाते हैं। वे क्यों नहीं खाते, इसकी जानकारी करनी चाहिए, इसलिए हम आपके पास आए हैं। आप लोग रात को क्यों नहीं खाते? हमने कहा–'हमारा यह व्रत है।'

'इसका स्वास्थ्य पर क्या असर होता है?'

हमने कहा–'यह धार्मिक नियम भी है और स्वास्थ्य का नियम भी है। प्राचीन आचार्यों ने बहुत अनुभव और प्रयोग के बाद यह प्रमाणित किया कि सूर्य के अस्त होने पर पाचन तंत्र सिकुड़ जाता है। उस समय जो खाया जाता है, वह बीमारी को बढ़ाता है। आचार्य हेमचंद्र आदि पुराने आचार्यों ने लिखा–'रात को नहीं खाना चाहिए, क्योंकि उस समय पाचन-तंत्र भी निष्क्रिय बन जाता है। पाचन-तंत्र रात को उतना सक्रिय नहीं रहता जितना सूर्य के प्रकाश में रहता है।' यह बात उनके समझ में आ गई। प्राकृतिक चिकित्सक भी कहते हैं–नौ बजे से पहले, दो घंटा दिन चढ़ जाये, उससे पहले भोजन नहीं करना चाहिए। सुबह लेना हो तो तरल चीज लें, अन्न नहीं। पूरा पाचन-तंत्र सक्रिय हो जाये, सूर्य की रश्मियां फैल जायें, कुछ ऊष्मा बढ़ जाये तब भोजन करना चाहिए। पाचन-तंत्र सक्रिय बनने के बाद ही अन्न खाना चाहिए।

यौगलिक युग में ये दोनों बातें थी। भोजन बहुत सीमित था, इसलिए बीमारी बढ़ाने वाली जड़ ही कट गई। न बुढ़ापे का प्रश्न था और न बीमारी का प्रश्न। इस प्रकार की चेतना, इस प्रकार का पर्यावरण और वातावरण होता है, तब क्या मनोदशा बनती है और जब चेतना बदलती है तब क्या समस्याएं आती हैं? इन सब प्रसंगों पर हमारा चिंतन चले, हम तथ्यों को समझने का प्रयत्न करें–उस समय कैसा युग था? आज कैसा युग है? क्या वैसा युग लाया जा सकता है? क्या हमारी चेतना वैसी बन सकती है? चेतना, परिस्थिति, उपादान–इन सबको मिलाकर हम सचाई को पकड़ें तो नये समाज की रचना का सार्थक प्रकल्प प्रस्तुत किया जा सकता है। ❑

इंद्रधनुषी व्यक्तित्व

जैन आचार्यों की परंपरा में अधुनातन युग का बहुचर्चित नाम है आचार्य तुलसी।
परिवेश में जैन, पर मन से मानव हैं आचार्यश्री तुलसी।
परम्परा से वे तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य हैं,
किंतु कर्तृत्व से अणुव्रत अनुशास्ता हैं।
अनुयायियों के घेरे में भी वे जन-जन के इतने आत्मीय हैं कि
उन्हें कोई पराया लगता ही नहीं।
गौर वर्ण, मझला कद, भव्य ललाट, तेजस्वी नयन, प्रलंब कान,
विशाल वक्ष, धवल परिधान और आशीर्वाद की मुद्रा में उठा हुआ हाथ।
व्यक्तित्व का यह बहिरंग पक्ष, प्रथम दर्शन में ही व्यक्ति को अपना बना लेता है।
दो क्षण उनके निकट बैठकर बात करनेवाला उनकी सोच की
नई शक्ति से अभिभूत हो जाता है।
घंटा भर उनका प्रवचन सुननेवाला उनके प्रतिपादन की प्रौढ़ शैली एवं संगीत के
स्वरों की रसमयता से ही नहीं बंधता,
उसे जीवन का नया दर्शन उपलब्ध होता है।

जीवन और जगत की समस्याओं से वे बेखबर नहीं हैं। इसलिए उनके पास आनेवाले समाधान की तृप्ति के साथ लौटते हैं।

नई लकीरें खींचने की आधार क्षमता रखने पर भी वे मौलिक लकीरों पर प्रगाढ़ आस्था के साथ चलते हैं।

उनकी आंखों में संपूर्ण व्यक्तित्ववाले नए इंसान का सपना है।

उनके मस्तिष्क में ज्ञान के अखूट स्रोत हैं।

उनके चिंतन के दरवाजे खुले हैं।

उनके अंतःकरण में पीड़ित मानवता के प्रति संवेदना है।

उनके हाथों में कर्तृत्व की दृढ़ता है।

उनके चरण मंजिल की ओर गतिशील हैं।

उन्होंने पांव-पांव चलकर पचास हजार किलोमीटर से भी अधिक धरती को मापा है।

उनका चित्त निर्मल है। प्रज्ञा जागृत है। आभामंडल उज्ज्वल है।

उनकी लेखनी में नए शिल्पन की चमक है।

वे देश तथा काल की सीमाओं से ऊपर हैं।

वे शब्दों, परिभाषाओं एवं छंदों से मुक्त हैं।

वे अपने समस्त परिवेश के प्रति सक्रिय हैं।

उन्होंने मूल्यहीनता के इस युग में चारित्रिक मूल्यों को प्रतिष्ठा दी है।

उनकी दृष्टि में धर्म संप्रदाय से ऊपर है।

वह जाति, वर्ग, प्रांत या भाषा के आधार पर विभक्त नहीं हो सकता।

प्रेक्षाध्यान एवं जीवन विज्ञान उनकी प्रेरणा की निष्पत्तियां हैं।

संपूर्ण जैन वाङ्मय का आधुनिकतम संपादन उनका लक्ष्य है। एक नए जीवन दर्शन के साथ नए युग में प्रवेश करना उनकी आकांक्षा है।

अध्यात्म का आलोक बिखेरनेवाला उनका यह इंद्रधनुषी व्यक्तित्व आज जन-जन के आकर्षण का केंद्र बन रहा है। ❑

वक्त की बात वक्त के साथ

महावीर का सच्चा स्मारक

दीपमालिका–भगवान महावीर का निर्वाण दिवस है। हजारों वर्षों से हम महावीर को मनाते आए हैं। आज भी मना रहे हैं, क्योंकि महावीर एक ऐसे व्यक्ति थे, जो अपने जीवन-पथ पर सदा वर्धमान रहे। शास्त्रकार कहते हैं, जब महावीर पैदा हुए तो घर में, परिवार में, कुल में, ग्राम में और संपूर्ण राज्य में ऋद्धि की वृद्धि हुई। अतः उनका नाम वर्धमान रखा गया। इस संदर्भ में मेरा व्यक्तिगत चिंतन यह है कि महावीर तो सहज वर्धमान थे। उनका चिंतन सदा वर्धमान था। आचरण सदा वर्धमान था। अपने संपूर्ण जीवन में वे हीयमान तो कभी थे ही नहीं। लगता है, उनकी इस वर्धमानता ने ही उन्हें वर्धमान बनाया। वस्तुतः हीयमान कभी वर्धमान नहीं बन सकता। वर्धमान ही वर्धमान बन सकता है। इस दृष्टि से परिवार, ग्राम, राज्य की ऋद्धि-वृद्धि का उनके वर्धमान नामकरण से कोई सीधा संबंध नहीं होना चाहिए।

महावीरता ने उन्हें महावीर बनाया

कहा जाता है कि उनका 'महावीर' नाम देवताओं द्वारा रखा गया। यह शास्त्रकारों का अपना चिंतन हो सकता है, पर इस संबंध में मैं कुछ भिन्न सोचता हूं। मेरी दृष्टि से महावीर की महावीरता ने ही उन्हें महावीर बनाया। जिस पथ पर वे चल पड़े, उस पर दृढ़ संकल्प के साथ सदा बढ़ते ही रहे, कहीं रुके नहीं। कभी पीछे हटे नहीं। जीवन के विषम-से-विषम क्षणों में भी उन्होंने कभी हार नहीं मानी। अवरोधों और कष्टों से वे कभी घबराए नहीं। मंजिल की दूरी उन्हें कभी निराश नहीं बना सकी। वस्तुतः सतत वर्धमान व्यक्तित्व ही महावीर बन सकता है।

महावीर का सच्चा स्मारक

आज लोगों द्वारा स्थान-स्थान पर भगवान महावीर के नाम पर स्मारक खड़े किए जा रहे हैं। मैं नहीं समझता, वे लोग महावीर का सच्चा स्मारक कैसे खड़ा कर सकेंगे, जिनके अंतःकरण में भगवान महावीर के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं है। महावीर का सच्चा स्मारक वे ही लोग बना सकते हैं, जो महावीर के आदर्शों और सिद्धांतों के प्रति सर्वात्मना समर्पित हैं। दूसरे शब्दों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि का उपक्रम ही एकमात्र महावीर का सच्चा स्मारक हो सकता है। 'प्रेक्षाध्यान' पद्धति का उद्घाटन इस दिशा में एक प्रयास है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ध्यान-पद्धति महावीर का सच्चा स्मारक सिद्ध होगी।

जरूरत है महावीर की

आज ऐसे ही एक महावीर की अपेक्षा है, जो विलासी व्यक्तियों की विलासिता का अंत करे, क्रूर व्यक्तियों की क्रूरता का शमन करे और दास बने हुए व्यक्तियों को दासता के शिकंजों से मुक्त करे। कोई प्रश्न कर सकता है–आज के युग में विलासी व्यक्ति हैं, क्रूर भी

हैं, पर दास तो कोई नहीं है। फिर दासता से मुक्ति कैसी? मैं पूछना चाहता हूं कौन नहीं है दास? कोई मन का दास है, कोई इंद्रियों का दास है। कोई वासना का दास है। कोई अपनी वृत्तियों का दास है तो कोई सत्ता का दास है। सत्ता की दासता भोगनेवाले व्यक्ति मानसिक रूप से भी कितने अस्थिर और संत्रस्त हो जाते हैं, आज की परिस्थितियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह दासता उस दासता से अधिक भयंकर है। उस समय तो क्रीत होने के बाद व्यक्ति को दास माना जाता था, आज तो अधिकांश लोग बिना खरीदे हुए दास हैं। आज ऐसे महावीर की जरूरत है, जो लोगों को दासता से मुक्त कर सके।

इस समय हमारे बीच में भगवान महावीर तो नहीं हैं, पर हम सब उन्हीं का अनुगमन करने का प्रयास कर रहे हैं। हम गांव-गांव और घर-घर में पहुंचकर महावीर के उसी संदेश को सब लोगों तक पहुंचाना चाहते हैं, जन-जन की विलासिता, क्रूरता और दासता का अन्त करना चाहते हैं। जिस महावीर ने हमको ऐसा व्यापक और सही दर्शन दिया, एक बार फिर अन्त:करण की समग्र आस्था से उन्हें अपने प्रणाम समर्पित करते हैं।

विवेक को जगाएं

दीपमालिका एक ऐसा त्योहार है, जिसके आगमन से बच्चे-बच्चे का मन खुशी से तरंगित हो उठता है। हजारों वर्षों के पश्चात भी इस पर्व की लोकप्रियता में किंचित भी न्यूनता नहीं आई है, अपितु कहना चाहिए कि यह पर्व हर वर्ष एक नया उल्लास, एक नई उमंग और एक नई प्रेरणा लेकर उपस्थित होता है। यह भी कैसा विचित्र संयोग है कि इस पर्व के साथ अनेक महापुरुषों की जीवन-घटनाएं जुड़ी हुई हैं।

जैन परंपरा के अनुसार आज के दिन चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर ने निर्वाण-जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त किया था। भगवान का निर्वाणोत्सव मनाने के लिए देवतागण धरती पर आए। उनके रत्नों की ज्योति से सारी पावापुरी (भगवान महावीर की निर्वाण-स्थली) जगमगा उठी। लोगों ने भी खुशी में घर-घर दीप जलाए। कुल मिलाकर उस दिन इतनी ज्योति हुई कि अमावस्या की वह काली रात दिन के प्रकाश से भी अधिक उजली लगने लगी। आज भी उसी परंपरा का निर्वहन करते हुए लोग घर-घर दीप जलाते हैं, ज्योति करते हैं और नाना प्रकार से अपनी प्रसन्नता को अभिव्यक्ति देते हैं। मैं लोगों की खुशी को रोकना नहीं चाहता, पर इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि वे खुशी मनाने में अपने विवेक को न भूलें। विवेक की कमी मंगल प्रसंग को भी बहुधा अमंगल बना देती है।

सच्ची दीवाली

मिट्टी के दीप जलाना तो दीपावली का बाह्य रूप है। सच्ची दीवाली तो उस दिन होगी, जिस दिन भीतर का दीप जलेगा। भगवान महावीर ने अपना भीतरी दीप जलाया था और वे उसके प्रकाश से प्रकाशित बने थे। हम भी उनके आदर्शों का अनुसरण करते हुए अपने-अपने अंत:करण आलोकित करें और स्वयंप्रकाशी बनकर जीवन के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करें। दीपावली का सच्चा संदेश यही है।

जीवन की स्वस्थ शैली

'अच्छा व्यक्ति अच्छा समाज' यह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल को इष्ट रहा है। मनुष्य इसके लिए निरंतर प्रयत्नशील भी रहा, किंतु प्रकृति का नियम है कि केवल अच्छा और केवल बुरा कभी नहीं होता। मनुष्य की प्रकृति का भी नियम है–सबका अच्छाई के प्रति आकर्षण और बुराई के प्रति घृणा का भाव नहीं होता। नाना रुचि और नाना मति के लोग होते हैं। इस नियम को जानते हुए भी हम अच्छाई के विकास के लिए प्रयत्नशील रहें। यह मानवीय मनन, मनीषा और पुरुषार्थ का निष्कर्ष है। जीवनशैली के विषय में हमारी स्थापना यह है–अहिंसा, मानसिक शांति तथा विश्वशांति की ओर ले जानेवाली जीवनशैली अच्छी है। हिंसा, मानसिक अशांति तथा वैश्विक अशांति की ओर ले जानेवाली जीवनशैली अच्छी नहीं है।

मानसिक शांति और विश्वशांति का प्राण तत्त्व है–सहिष्णुता। पर्यावरण प्रदूषण के प्रति आज का विश्व मानस जितना जागरूक है, उतना असहिष्णुता के प्रदूषण के प्रति जागरूक नहीं है। असहिष्णुता का प्रदूषण पर्यावरण के प्रदूषण से कम खतरनाक नहीं है। पर्यावरणीय प्रदूषण मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा बनेगा तब बनेगा किंतु असहिष्णुता का प्रदूषण आज भी मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा बन रहा है। जातीय और सांप्रदायिक असहिष्णुता मनुष्य को जगंली जानवर से भी अधिक क्रूर बना देती है, जिनका प्रदर्शन सन् 1994 में रंवाडा और बोस्निया में हुआ। जिस असहिष्णुता का उद्भव अहंकार, घृणा और सत्ता लोलुपता के जंगल में होता है, उस समस्या के समाधान के लिए मानव की संकल्पशक्ति को जगाना जरूरी है। हमने अणुव्रत के माध्यम से स्वस्थ जीवनशैली और रुग्ण जीवनशैली का चित्र प्रस्तुत किया है। उसका प्रतिमान इस प्रकार है–

स्वस्थ जीवनशैली	**रुग्ण जीवनशैली**
○ निरपराध की हिंसा का वर्जन	○ संकल्पपूर्वक निरपराध की हिंसा
○ मानवीय एकता में विश्वास	○ जातीय घृणा से ग्रस्त मानस
○ सांप्रदायिक सद्भाव या सौहार्द	○ सांप्रदायिक कट्टरता और संघर्ष
○ व्यसन-मुक्त जीवन	○ मादक द्रव्यों से आक्रांत जीवन
○ व्यावसायिक प्रामाणिकता	○ आर्थिक अपराध
○ सह-अस्तित्व की मनोवृत्ति	○ आक्रामक मनोवृत्ति
○ संग्रह की सीमाएं	○ असीम संग्रह की मनोवृत्ति
○ उपभोग की सीमा	○ असीम उपभोग की मनोवृत्ति
○ पर्यावरण के प्रति जागरूकता	○ पर्यावरण की उपेक्षा

जीवनशैली को स्वस्थ बनाने के लिए आवश्यक है मस्तिष्कीय प्रशिक्षण। उस प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण अंग है अनुप्रेक्षा। सिद्धांत को जानने मात्र से बदलाव लाना कठिन है। अभ्यास से परिवर्तन हो सकता है। मनोवैज्ञानिक अभ्यास के द्वारा पशु-पक्षियों को प्रशिक्षित करते हैं तो क्या मनुष्य के मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता? किया जा सकता है। यह सचाई है। ❑

शांति का उत्स है संयम

अणुव्रत की चेतना संकल्प-शक्ति की प्रतीक है। जाति, देश, धर्म, रंग, लिंग आदि भेद रेखाओं को पार कर इंसान को इन्सानियत की प्रेरणा देना अणुव्रत का लक्ष्य है। मंदिर और मस्जिद के विवादों से दूर रहकर ऊंचा जीवन जीने की दिशा का प्रशस्तीकरण अणुव्रत का फलित है। धार्मिक कहलाने से पहले नैतिक बनने की दृष्टि देकर अणुव्रत ने नैतिकताशून्य धर्म के आगे प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया।

अणुव्रत हृदय-परिवर्तन की प्रेरणा है। व्यक्ति का सुधार इसे काम्य है, पर यह व्यक्ति तक पहुंचकर रुकता नहीं है। व्यक्ति के माध्यम से समाज, राष्ट्र और विश्व सुधार की दिशा में गति का आश्वासन यही दे सकता है। 'संयमः खलु जीवनम्'—संयम ही जीवन है, इस घोष के सहारे अणुव्रत ने जन-जन की चेतना को झंकृत किया है। मनुष्य की भोगवादी और सुविधावादी मनोभूमि सुख-शांति की फसल उगा सके, यह असंभव है। जिस माटी में संयम की सौंधी गंध होगी, उसी में सुख शांति का अंकुरण संभव है।—इस आस्था का जागरण और प्रसारण आज की सबसे बड़ी अपेक्षा है।

अणुव्रत स्वस्थ-समाज संरचना की बुनियाद

- जिस समाज में कोई किसी निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करता।
- जिस समाज में कोई किसी पर आक्रमण की पहल नहीं करता।
- जिस समाज में कोई हिंसात्मक तोड़फोड़ नहीं करता।
- जिस समाज में कोई किसी को अछूत नहीं मानता।
- जिस समाज में सांप्रदायिक उन्माद नहीं होता।
- जिस समाज में व्यावसायिक अनैतिकता नहीं होती और उसे प्रतिष्ठा भी नहीं मिलती।
- जिस समाज में लोकतंत्र की धज्जियां नहीं उड़ती, चुनाव के प्रसंग में अनैतिक आचरण नहीं होता।
- जिस समाज पर सामाजिक कुरूढ़ियों का शिकंजा कसा हुआ नहीं रहता।
- जिस समाज में मादक व नशीले पदार्थों का उपयोग नहीं होता।
- जिस समाज में संग्रह और भोग को अनियंत्रित नहीं रखा जाता।
- जिस समाज में पर्यावरण की उपेक्षा नहीं होती।

जो लोग अपने समाज को स्वस्थ बनाना चाहते हैं, वे व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को अणुव्रत आचार-संहिता के सांचे में ढालने का प्रयत्न करें। यह एक सामूहिक अनुष्ठान है। इसमें जनशक्ति का सम्यक् नियोजन हो पाया, तो समाज की रुग्णता को सरलता से दूर किया जा सकता है। ❑

पारिवारिक सौहार्द के अमोघ सूत्र

जन्म और जीवन दो बातें हैं। जन्म के लिए सौहार्द की अपेक्षा नहीं होती, पर जीने के लिए वह एक आवश्यक तत्त्व है। वैसे सौहार्द के बिना भी जीवन टिक सकता है, किंतु उसमें वह समरसता और जीवटता नहीं रह पाती, जो व्यक्ति को आह्लाद की अनुभूति देती है। सौहार्द की भित्ति है मैत्री। प्राणी जगत के साथ तादात्म्य स्थापित करने का यह मूल मंत्र है। अविकसित चेतनावाले प्राणियों पर भी मैत्री का अद्‌भुत प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता है, मैत्री की अपेक्षा बढ़ती जाती है। मैत्री भावना की व्यावहारिक फलश्रुति है सौहार्द। इसका विकास अन्य जीव-जंतुओं की अपेक्षा मनुष्य में अधिक हो सकता है; क्योंकि वह विचारशील होता है, विवेकशील होता है और सामूहिक जीवन जीता है।

जहां व्यक्ति अकेला रहता है, वहां वह निरपेक्ष जीवन जीता है। इकाइयों की संहति परिवार को आकार देती है। परिवार का होना या बढ़ना कोई बहुत मूल्यवान बात नहीं है। मूल्यवान बिंदु है पारिवारिक सौहार्द। आज सौहार्द का जहाज युगीन सभ्यता के सागर में डूब रहा है, यह सबसे अधिक चिंता का विषय है। इससे मानवजाति की मुस्कान फीकी होती जा रही है और जीवन बोझिल बनता जा रहा है। ऐसा लगता है मानो सड़कों पर अंधेरे से मुकाबला करती डे-लाइटों का उजास फैल रहा है, किंतु मनुष्य के अंतःकरण में अंधेरों का मजमा लगा हुआ है। इस मजमे को बिखेरने के लिए आत्मविश्वास के दीवट में सौहार्द का तेल भरना जरूरी है।

सौहार्द का राज

प्राचीन काल में पारिवारिक सौहार्द की समस्या इतनी जटिल नहीं थी। उस समय संयुक्त परिवार की परंपरा थी। परिवार के सैकड़ों सदस्य एक साथ रहते थे। केवल रहते ही नहीं थे, उसमें सुविधा और गौरव का अनुभव करते थे। परिवार में नीति-निर्धारण और व्यवस्था का पूरा दायित्व बुजुर्गों पर रहता था। युवापीढ़ी निश्चिंत होकर काम करती थी। वृद्धजनों के स्नेह और संरक्षण में नई पौध पर्याप्त विकास कर लेती थी, क्योंकि वे सब एक-दूसरे को सहना जानते थे। सहिष्णुता के अभाव में दो व्यक्तियों का भी एक साथ निर्वाह होना कठिन हैं, सौ व्यक्तियों की बात ही दूर है।

बादशाह ने अपने वजीर के बारे में सुना कि उसके परिवार में सौ व्यक्ति एक चूल्हे पर भोजन करते हैं। बादशाह के मन में कुतूहल जगा। वह स्थिति का जायजा लेने के लिए वजीर के घर पहुंचा। जैसा सुना था, उससे भी व्यवस्था और अनुशासन ने बादशाह की जिज्ञासा को बढ़ा दिया। उसने पूछा—आप इतने लोग एक साथ रहते हैं, कभी आपस में झगड़ा नहीं होता? आप लोगों में किसी के बीच मनमुटाव तो नहीं है? इस व्यवस्था में आपके सामने कोई कठिनाई तो उपस्थित नहीं होती? सब प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर मिला। बादशाह ने पूछा—आखिर इस पारिवारिक सौहार्द का राज क्या है? परिवार के मुखिया ने शांत और गंभीर स्वरों में कहा—हम एक-दूसरे को सहना जानते हैं, इसलिए सौहार्द से रहते हैं। सहिष्णुता के अतिरिक्त सौहार्द को बनाए रखने का कोई आधार ही नहीं है।

विघटन के कारण

इस शताब्दी में परिवारों के टूटने का जो सिलसिला बना है, चौंका देनेवाला है। पश्चिमी देशों में यह क्रम बहुत पहले से चला आ रहा है। वहां तो छोटी-से छोटी बात पति-पत्नी तक को न्यायालय की देहरी पर चढ़ा देती है और आए दिन तलाक होते रहते हैं, पर भारतीय परंपरा में ये सब बातें आयातित-सी प्रतीत होती हैं। व्यक्तिवादी मनोवृत्ति, औद्योगिकीकरण, मकान की समस्या, यातायात की समस्या आदि और भी कुछ कारण हैं, जो पारिवारिक विघटन में निमित्त बने हैं। विदेशी प्रभाव हो या देश की समस्या परिवारों में बिखराव हुआ है। इस बिखराव के कारण पारस्परिक सौहार्द में जो कमी आई है, वह चिंतनीय पहलू है। यदि परिवार से दूर रहने पर भी सौहार्द का सेतु जुड़ा हुआ रहे तो बहुत-सी नई उभरनेवाली समस्याओं को रोका जा सकता है।

परिवार में सौहार्द को बनाए रखने के लिए साधनों की खोज से पहले एक बार समीक्षा यह करनी चाहिए कि क्या वास्तव में सौहार्द की अपेक्षा है? अपेक्षा है तो उसके न होने के क्या कारण हैं? मूल कारण का निवारण हुए बिना परिवार या समाज में कोई भी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति में स्वच्छंद रहने का मनोभाव ही दृढ़ हो जाए तो उसमें सौहार्द के भाव कैसे टिक सकते हैं? जिसे झमेला खड़ा करने का बहाना ही खोजना हो, वह किसी भी बात का बहाना बना सकता है।

पर यह सच है कि जिसको विघटन करना होता है, वे ऐसे ही होने-अनहोने बहाने बनाकर विग्रह खड़ा कर देते हैं और मिली हुई अनेक इकाइयां टूट-टूट कर अलग-अलग हो जाती हैं। ऐसे संदर्भ का इतिहास बोल रहा है कि परिवार या समाज का हर व्यक्ति अपने सुख-दुःख का स्वयं जिम्मेवार है। वह न किसी की वेदना को बांटना चाहता है और न किसी के सुख में सहभागी बनना चाहता है।

स्थान नहीं, स्वभाव का बदलाव

परिवार छोटा हो या बड़ा, सौहार्द न हो तो सुख का स्रोत सूख जाता है। जो व्यक्ति परिवार में बढ़ते हुए झगड़ों के कारण अलग रहने का निर्णय लेते हैं, उन्हें स्थान बदलने के स्थान पर स्वभाव बदलने की बात सोचनी चाहिए। दिशा बदल जाए, मनोवृत्ति परिष्कृत हो जाए, असौहार्द के कारण समाप्त हो जाएं और सौहार्द के निमित्त उभर जाएं तो परिवार टूटने की बात ही खड़ी नहीं होगी। पारिवारिक टूटन का प्रभाव केवल वर्तमान पीढ़ी पर ही नहीं पड़ता है, उससे भावी पीढ़ियां भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहतीं। इस दृष्टि से बहुत ही जागरूक रहने की जरूरत है। वर्तमान पीढ़ी की थोड़ी-सी असावधानी आनेवाली कई पीढ़ियों को मानसिक दृष्टि से अपाहिज या संकीर्ण बना सकती है। इसलिए दिशा-परिवर्तन के प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

अनाग्रह

पारिवारिक सौहार्द का प्रबल निमित्त है विचारों का अनाग्रह। जहां आग्रह है, वहां खिंचाव है, तनाव

है और टूटन है। अनाग्रह में लोच होती है। जिसके विचारों में लचक होती है, वह समय पर झुक जाता है, इसलिए उसके सामने टूटने का प्रसंग नहीं आता। जिसमें लचीलापन नहीं होता है, वह किसी भी परिस्थिति में अपनी पकड़ी हुई बात को नहीं छोड़ता। जो बात को पकड़कर रखता है, उसी के मन में प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया प्रतिशोध को जन्म देती है। प्रतिशोध की आग सौहार्द के अंकुर को भस्मसात कर मन की धरती को बंजर बना देती है। मन की धरती बंजर होने के बाद जीवन में निराशा और नीरसता का एकछत्र साम्राज्य हो जाता है। इसलिए अनाग्रही वृत्ति का विकास बहुत जरूरी है।

विश्वास

संदेह सौहार्द का विघटन तत्त्व है। जहां-जहां संदेह के अंकुर फूटते हैं, सौहार्द हिरन हो जाता है। संदेह के कारण वे आत्मीयतापूर्ण रिश्ते भी टूट जाते हैं, जिनके बारे में कभी कोई आशंका ही उत्पन्न नहीं होती है। संदेह की पौध पनपे ही नहीं, इसके लिए मन की धरती पर विश्वास की कंकरीट जमाने की अपेक्षा रहती है।

विश्वास वह शक्ति है जो व्यक्ति को संकीर्णता के कठघरे से निकालकर आत्मीयता की विराट भूमि पर लाकर खड़ा कर देती है। विश्वास करना व उसकी रक्षा करना—ये दो ऐसी बातें हैं जो संदेह की लोहमयी दीवार को भी तोड़ सकती हैं। जिस व्यक्ति के जीवन में संदेह का विष घुल जाता है, उसकी वेदना और व्यथा का कोई पार नहीं रहता।

विश्वास की सुरक्षा का सबसे सरल उपाय है किसी के बहकावे में आकर इधर-उधर की बात न करना तथा अपने बारे में कोई बात सुने तो संबंधित व्यक्ति से प्रत्यक्ष वार्तालाप कर लेना। किसी का विश्वास पाने के लिए विश्वास देना भी आवश्यक है। जो व्यक्ति इस दिशा में सफल हो जाता है, वह सौहार्द की सुरक्षा कर सकता है।

परस्परता और सेवाभावना

परस्परता यानी सापेक्षता सामूहिक जीवन की सफलता का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जो लोग एक समूह में रहते हुए भी निरपेक्ष रहते हैं, एक-दूसरे की सुविधा-दुविधा में भागीदार नहीं बनते, वे अकेलापन महसूस करते हैं और अपने आपसे ऊब जाते हैं। अध्यात्म की भूमिका में निरपेक्षता का मूल्य है, किंतु दैहिक स्तर पर जीने के लिए सापेक्ष रहना ही पड़ता है। सापेक्षता आत्मौपम्य भाव को विकसित करती है; जबकि निरपेक्षता व्यक्ति को अव्यावहारिक बना देती है। पारिवारिक सौहार्द को स्थिरता देने में भी परस्परता का जो योगदान रहता है, उसे नकारा नहीं जा सकता।

परस्परता की पौध पर ही सेवाभावना के फूल खिलते हैं। जहां परस्परता नहीं होती, वृद्ध और बीमार की सेवा भी नहीं हो सकती। परिवार हो या समाज, सेवा की अपेक्षा सब जगह रहती है। हार्दिक भाव से जो सेवा होती है, उसकी सौंधी गंध मन और प्राणों को पुलकन से भर देती है।

कर्तव्यनिष्ठा भी सेवाभावना के लिए महान प्रेरणा बन सकती है। थोपी हुई या ओढ़ी हुई सेवा के पीछे परस्परता की भावना नहीं रहती। सच्चे मन से सेवा करनेवाला अपने सुख-दुःख को गौण कर देता है। ऐसी सेवाभावना जिन परिवारों में होती है, वहां सौहार्द का अस्तित्व अवश्यंभावी है।

पारिवारिक सौहार्द के लिए ये थोड़ी-सी बातें सुझाई गई हैं। ऐसी और भी अनेक बातें हैं, पर उन सबकी एक साथ चर्चा कन्फ्यूजन पैदा कर सकती है। इसलिए इस समूचे प्रसंग में चिंतनीय पहलू यह है कि व्यक्ति अपने-अपने परिवार की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर जीवन की दिशा को मोड़ दे। वह जहां खड़ा है, उसी बिंदु पर आगे बढ़ने से शायद लक्षित मंजिल मिल जाए। ❑

ऐसे सुधरेगी भारत में
चुनाव की प्रक्रिया

शासन चलाने के लिए दो प्रकार की व्यवस्थाएं प्रचलित हैं- राजतंत्र और जनतंत्र। राजतंत्रीय व्यवस्था में एक व्यक्ति सर्वेसर्वा होता है। शासन का सूत्र उसे विरासत में मिलता है। उसके सामने योग्यता या अयोग्यता का प्रश्न नहीं होता। वहां उत्तराधिकार की परंपरा चलती है।

जनतंत्रीय व्यवस्था में अंतिम पंक्ति में खड़ा व्यक्ति भी राष्ट्राध्यक्ष के पद तक पहुंच सकता है। वह राष्ट्र का प्रथम नागरिक बन सकता है। शर्त एक ही है कि जनता उसे स्वीकार करे। जनता की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए चुनाव की व्यवस्था की गई। किसी दल विशेष के प्रतिनिधि को चुनाव में खड़ा होने का जितना अधिकार है, उतना ही अधिकार किसी दल की सदस्यता स्वीकार नहीं करनेवाले को भी है।

ढाई हजार वर्ष पहले शासन संचालन की एक अन्य पद्धति प्रचलित थी, जो गणराज्य व्यवस्था कहलाती थी। उस व्यवस्था में अनेक राजा मिलकर शासन सूत्र संभालते थे। किस समय कौनसी पद्धति प्रभावी रहती है, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किस पद्धति में सुव्यवस्था रहती है और जनता के हितों की सुरक्षा होती है।

स्वतंत्र भारत में प्रारंभ से ही लोकतंत्रीय व्यवस्था चल रही है। देश के संविधान में इसी व्यवस्था को मान्य किया गया है। चुनाव लोकतंत्र की अनिवार्य प्रक्रिया है। प्रश्न यह है कि मतदान का आधार क्या हो? लोकतंत्र की व्यवस्था के लिए मतदान का आधार होना चाहिए चरित्रशीलता और गुणवत्ता। जिस व्यक्ति का चरित्र उन्नत हो और नेतृत्व के गुणों की बहुलता हो, वह व्यक्ति सत्ता में आकर राष्ट्रहित या जनहित में कुछ काम कर सकता है, किंतु जहां मतदान का आधार जातीयता, सांप्रदायिकता, प्रलोभन आदि बनते हैं, वहां सिद्धांत ताक पर धरे रह जाते हैं और भाई-भतीजावाद पनपने लगते हैं।

जो व्यक्ति पद, प्रतिष्ठा अथवा स्वार्थ की प्रेरणा से चुनाव में खड़े होते हैं, वे जैसे-तैसे चुनाव को जीतने का प्रयास करेंगे। चुनाव के साथ अर्थ का अनाप-शनाप व्यय इन्हीं बिंदुओं पर किया जाता है। उम्मीदवार के लिए निर्धारित चुनाव व्यय तो आटे में नमक जितना रह जाता है। जो उम्मीदवार जितना पैसा बहा सकता है, वह उतने ही अधिक वोट पा सकता है। इस धारणा के आधार पर पार्टी से अतिरिक्त अन्य स्रोतों से अर्थ खींचा जाता है।

ऐसे समय में आर्थिक सहयोग करनेवाले भी अपनी अपेक्षाओं की सूची तैयार करके रख लेते हैं। जब भी काम पड़ता है, उनकी पहली दस्तक उसी व्यक्ति के दरवाजे पर होती है, जो उसके अर्थ सहयोग का आभारी है। भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर अर्थ यहीं से मिलेगा, यह सोचकर वह भी उसकी उचित-अनुचित हर मांग को पूरा करता जाता है।

यही बात जाति और संप्रदाय के साथ जुड़ी हुई है। जब किसी मतदाता से पूछा जाता है कि आप वोट किसे देंगे? इसका उत्तर जाति या संप्रदाय विशेष में सिमटा हुआ होता है। लोकतंत्र के गले पर छुरी चलाने का सिलसिला यहीं से शुरू हो जाता है।

चुनाव जीतने का एक माध्यम है—प्रचार-प्रसार। कार्यक्रम में पार्टी की नीतियों का विश्लेषण किया जा सकता है। अपने घोषणा-पत्र की व्याख्या की जा सकती है। जनहित में किए जानेवाले कार्यों का ब्योरा दिया जा सकता है, पर विपक्षी उम्मीदवार के चरित्र का हनन, गाली-गलौज व अश्लील शब्दों का प्रयोग और हत्या के षड़यंत्र जैसे जघन्य उपायों को काम में लेनेवाले व्यक्ति सेवा का आदर्श उपस्थित कर सकेंगे, वह सोचा भी नहीं जा सकता। ऐसा माहौल राजनीति की छवि बिगाड़ता है।

किसी भी विशेष कार्यक्षेत्र में प्रवेश करनेवाले व्यक्ति को प्रशिक्षण दिया जाता है और उसका परीक्षण भी किया जाता है। इसके लिए प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन भी होता है, पर आश्चर्य इस बात का है कि देश की बागडोर संभालनेवालों के लिए न किसी प्रशिक्षण की व्यवस्था है और न परीक्षण की आवश्यकता है। वोटों के गलियारे में सत्ता के शीर्ष पर पहुंचनेवाले लोगों के लिए न कोई साधना है और न कोई तपस्या। ऐसे नौसिखिया लोग शासनसूत्र हाथ में लेकर भी उसे कब तक संभालकर रख पाएंगे।

वर्तमान परिस्थिति में सारी सत्ता या अधिकार राजनीति के हाथ में है। राजनीति में प्रवेश करनेवालों को एक साथ इतने अधिकार मिल जाते हैं, पर उनके जीवन में मूल्यों को कोई स्थान नहीं मिलता। ऐसे व्यक्ति न तो मूल्यरक्षा के लिए समर्पित होंगे और न राजनीति को स्वच्छ रख पाएंगे। ऐसी स्थिति में उभरनेवाली सब समस्याओं की जड़ें चुनाव की धरती में गड़ी हुई होती हैं। उन जड़ों को उखाड़ने के लिए चुनाव-प्रक्रिया को बदलने के नारे भी एक प्रकार से चुनावी नारे बनकर रह जाते हैं। मतदान की उम्र को घटाकर अठारह वर्ष ले जाने से मतदाताओं की संख्या तो बढ़ सकती है, पर चुनाव की चालू पद्धति में परिवर्तन की संभावना नहीं बढ़ सकती।

राजनीति की ऐसी दुरवस्था को देखकर कुछ लोग कह देते हैं कि इससे तो एकतंत्र ही अच्छा था। इसी भावना से प्रेरित लोग ब्रिटिश शासन को याद कर सकते हैं, पर यह रोग का उपचार नहीं है। एकतंत्र की लंबी परंपरा का जिनको अनुभव है, वे जानते हैं कि एक व्यक्ति की इच्छा व्यापक हितों से जुड़ी हुई नहीं होती। सामूहिक हितों को कुचलने की कुचेष्टा के परिणामस्वरूप ही जनतंत्र का आविर्भाव हुआ। जनतंत्रीय व्यवस्था में अधिनायकवादी प्रवृत्ति को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है, पर एकतंत्र में ऐसा कोई भी कदम उठाने का अवकाश नहीं है। जनहित को प्रमुखता देने के कारण जनतंत्र की वरीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर इसका अर्थ यह भी नहीं होना चाहिए कि जन-प्रतिनिधियों का आचरण निरंकुश हो जाए।

चुनाव के समय मतदाता, मतदान और उम्मीदवार व्यक्तियों के लिए कोई मानदंड निश्चित नहीं है। इसलिए चारों ओर धांधली चलती है। जातिवाद, संप्रदायवाद और आर्थिक प्रभाव के अतिरिक्त मतपेटियों को इधर-उधर करना, मतदान केंद्रों पर अव्यवस्था करना आदि ऐसी बातें हो गई हैं, जो लोकतंत्र का खुला मजाक उड़ा रही हैं। इससे आगे लोकसभा, राज्यसभा या विधानसभाओं की कार्यवाहियों पर दृष्टिक्षेप किया जाए तो वहां की स्थिति और अधिक भयावह है। भद्दे गाली-गलौज, कुर्सी उठाना, चप्पल फेंकना, धक्का-मुक्की करना, हो-हल्ला मचाना, चरित्रहनन करना आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जो साधारण व्यक्ति के लिए भी लज्जाजनक हैं, पर देश के दायित्वशील और चुने हुए व्यक्ति विरोध-प्रदर्शन के ऐसे अभद्र तरीके काम में लेते हैं तो लोकतंत्रीय प्रणाली को भी विवाद के कठघरे में खड़ा होना पड़ता है।

इस समय देश में चुनाव की चर्चा है। आगामी चुनाव में लोकतंत्र का ऐसा भोंड़ा मजाक न हो, इस दृष्टि से सत्तारूढ़ दल, विपक्षी दल तथा चुनाव आयोग-सबको मिलकर कोई ऐसा रास्ता खोजना चाहिए जिससे सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश भारत की गरिमा अक्षुण्ण रह सके।

अणुव्रत हमारे देश का एकमात्र नैतिक आंदोलन है। देश की आजादी के साथ-साथ इसका सूत्रपात हुआ और देश में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, इस दृष्टि से अणुव्रत की आचार-संहिता बनाई गई। अणुव्रत की आचार-संहिता मानवीय आचार-संहिता है। इसमें जाति, धर्म आदि की कोई भी बाधा नहीं है। एक सामान्य आचार-संहिता का निर्धारण करने के बाद यह चिंतन हुआ कि वर्गीय आचार-संहिता भी बननी चाहिए ताकि वर्ग विशेष की बुराइयों को नियंत्रित किया जा सके। इस संदर्भ में शिक्षक, विद्यार्थी, व्यापारी, श्रमिक-मतदाता, उम्मीदवार आदि अनेक वर्गों के लिए कुछ स्वतंत्र नियम बनाए गए। चुनाव के संदर्भ में मतदाता और उम्मीदवार की आचार-संहिता का पालन हो तो चुनाव-प्रक्रिया स्वयं सुधर जाएगी। उसके लिए किसी नए प्रयत्न की अपेक्षा भी नहीं रहेगी। जानकारी के लिए यहां दोनों वर्गों की आचार-संहिता दी जा रही है–

मतदाता के लिए आचार संहिता

1. मैं रुपए व अन्य प्रलोभन से मतदान नहीं करूंगा।
2. मैं जाति आदि के आधार पर मतदान नहीं करूंगा।
3. मैं अवैध मतदान नहीं करूंगा।
4. मैं चारित्र व गुणों के आधार पर अपने मत का निर्णय करूंगा।
5. मैं किसी दल व उम्मीदवार के प्रति अश्लील प्रचार व निराधार आक्षेप नहीं करूंगा।
6. मैं किसी चुनाव-सभा या अन्य कार्यक्रमों में अशांति या उपद्रव नहीं फैलाऊंगा।

उम्मीदवार के लिए आचार संहिता

1. मैं रुपए व अन्य प्रलोभन तथा भय दिखाकर मतग्रहण नहीं करूंगा।
2. मैं जाति, धर्म आदि के आधार पर मत ग्रहण नहीं करूंगा।
3. मैं अवैध मत ग्रहण करने का प्रयास नहीं करूंगा।
4. मैं सेवाभाव से रहित केवल व्यवसाय बुद्धि से उम्मीदवार नहीं बनूंगा।
5. मैं अपने प्रतिपक्षी उम्मीदवार या दल के प्रति अश्लील प्रचार व निराधार आक्षेप नहीं करूंगा।
6. मैं अपने प्रतिपक्षी उम्मीदवार या दल की चुनाव-सभा या अन्य कार्यक्रमों में अशांति या उपद्रव नहीं फैलाऊंगा।
7. मैं निर्वाचित होने पर बिना पुनः चुनाव के दल-परिवर्तन नहीं करूंगा।
8. मैं निर्वाचित होने पर यदि मेरे चुनाव-क्षेत्र के मतदाताओं का मेरे प्रति अविश्वास या असंतोष विकसित हुआ और इस संबंध में लिए गए मतदान का तीन-चौथाई मत मेरे विरुद्ध हुआ तो अविलंब पदत्याग करूंगा। यह आचार-संहिता एक मॉडल है। इसे आधार मानकर सम-सामयिक आवश्यक मुद्दों को इसके साथ जोड़ा जा सकता है।

- चुनाव को लेकर किसी प्रकार की हिंसा न हो।
- मतदान केंद्र पर कब्जा न किया जाए।
- मतदान के क्रम में व्यवधान उपस्थित न किया जाए।
- धर्म और जाति के नाम पर वोट न बटोरे जाएं।
- मतदाता को फुसलाकर भ्रांत न बनाया जाए।
- जाली मतदान न करवाया जाए।
- मतगणना में हेराफेरी करने का प्रयत्न न किया जाए। ❑

कुछ अनछुए प्रसंग

आध्यात्मिक दृष्टि से आचार्यश्री ने जो प्रयोग किए हैं, उनकी सूची बहुत लंबी है। उन सब प्रयोगों को जानना, समझना और अभिव्यक्ति देना कठिन है। सब प्रयोगों के केंद्र में मूल उद्देश्य रहा है आत्मबोध। किंतु उसकी परिधि में कुछ अन्य लक्ष्य भी सक्रिय रहे हैं। आत्मबोध की इस यात्रा में वे कहां तक पहुंच पाए, यह तो उन्हीं के बताने की बात है। यहां कुछ प्रयोगों की झलकभर दिखाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

खाद्यसंयम का प्रयोग

आचार्यश्री तुलसी सन् 1925 में मुनि बने। मुनि जीवन के ग्यारह वर्षों में उनका प्रयोगधर्मा मन इतना परिपक्व नहीं हुआ था। इसलिए नए प्रयोग करने की इच्छा जागृत होने पर भी कोई उल्लेखनीय प्रयोग नहीं हो सका। सन् 1936 में वे आचार्य बने। आचार्यत्व के गरिमामय दायित्व को संभालते ही उनका ध्यान इस ओर केंद्रित हुआ। उन्होंने अपने धर्मसंघ को सत्य की प्रयोगशाला बनाने का सपना देखा। सपना बहुत सुंदर था। पर काललब्धि का परिपाक हुए बिना कोई भी स्वप्न आकार नहीं ले पाता। प्रथम सात वर्षों का समय उस स्वप्नदर्शी मानस को यथार्थ का धरातल नहीं दे पाया। आचार्यश्री ने उस समय का उपयोग अध्ययन और अध्यापन में विशेष रूप से किया।

सन् 1944 से चिंतनपूर्वक प्रयोग करने का सिलसिला शुरू हुआ। उन्होंने सोचा— साधना के साथ स्वास्थ्य का गहरा अनुबंध है। स्वास्थ्य के लिए प्राकृतिक जीवन जीना जरूरी है। प्रकृति ने मनुष्य को जो अवदान दिया है, उसकी सुरक्षा का ध्यान नहीं रखा गया तो प्रकृति के प्रकोप को झेलना पड़ेगा। प्रकृति के प्रकोप का अर्थ है अस्वास्थ्य और अस्वास्थ्य की निष्पत्ति है साधना में अवरोध। इस अवरोध को टालने के लिए खाने-पीने का संयम और सजगता जरूरी है। खाद्यसंयम के पहले प्रयोग में आचार्यश्री ने एक वर्ष के लिए कुछ ऐसी चीजें छोड़ दीं, जिनके लिए बचपन से ही मन में थोड़ा आकर्षण था। उन वस्तुओं में रामखिचड़ी और पापड़ का नाम उल्लेखनीय है। एक वर्ष के परहेज से उन वस्तुओं के प्रति जो आकर्षण था, वह समाप्त हो गया।

उक्त प्रयोग के साथ ही आचार्यश्री ने योगासन का प्रयोग शुरू कर दिया। आसन-प्रयोग के साथ खाद्यसंयम न रहे तो योगासन के अभ्यास से भी विशेष लाभ नहीं हो

सकता। दीर्घकाल तक प्रयोग करने की दृष्टि से उन्होंने भोजन में सात या नौ द्रव्यों से अधिक न खाने का संकल्प स्वीकार कर लिया। यह क्रम वर्षों तक चला। कुछ वर्षों के बाद उन्होंने प्रतिवर्ष एक बार दस प्रत्याख्यान करना शुरू कर दिया। कई बार दस प्रत्याख्यान का क्रम सामूहिक भी चला। पिछले कुछ वर्षों से इस क्रम को बदल दिया गया है।

सन् 1950 से आचार्यश्री ने अष्टमी और चतुर्दशी को एकासन–दिन में एक बार भोजन का प्रयोग प्रारंभ किया। इधर यात्रा का प्रारंभ, उधर प्रतिमाह चार एकासन। कई साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं ने यात्राकाल में एकासन न करने का अनुरोध किया। पर आचार्यश्री को एकासन में रस आ गया। उन्होंने अनुभव किया कि सप्ताह में एक समय भोजन न लेने से शरीरतंत्र को विश्राम मिलता है। यह बात नहीं थी कि भोजन न करने से भूख का अनुभव नहीं होता। भूख का अनुभव भी अतिरिक्त आत्मतोष देनेवाला था। इसलिए क्रम चलता रहा। शुरू-शुरू में यात्रा के समय कुछ कठिनाई भी हुई। अब तो वह जीवन का सहज क्रम बन गया है।

स्वाद-विजय की दृष्टि से आचार्यश्री ने कुछ समय के लिए सब प्रकार के मिर्च-मसालों को छोड़ दिया। सामान्यतः बिना नमक-मिर्च की सब्जी रुचिकर नहीं लगती। किन्तु रसना वश में होने के बाद अस्वाद में से स्वाद निकल जाता है। साधना के क्षेत्र में अनुकूल भोज्य पदार्थ की प्रशंसा और नीरस भोज्य पदार्थ की निंदा करने को दोष माना गया है। इस तथ्य को जानने पर भी अनुकूल-प्रतिकूल भोजन के प्रति राग-द्वेष होना अस्वाभाविक नहीं है। आचार्यश्री ने अपने आपको इतना साध लिया कि भोजन के संबंध में रुचिकर-अरुचिकर का प्रश्न गौण हो गया।

कुछ नए प्रयोग

धर्मसंघ का नेतृत्व संभालते ही भीड़ आचार्यश्री की नियति बन गई। दिन हो या रात, गांव हो या शहर, उनके चारों ओर परिचित-अपरिचित चेहरों की भीड़ रहती है। भीड़ से वे कभी अघाते नहीं हैं। क्योंकि वे भीड़ में भी अकेले रहते हैं। फिर भी विशेष प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने कई बार साप्ताहिक एकांतवास किए। राजसमन्द, बीदासर, लाडनूं, जयपुर, सरदारशहर, हिसार आदि क्षेत्रों के किए गए एकांतवास व्यक्तिगत साधना और संघीय चिंतन–दोनों दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण रहे। हिसार का प्रयोग तो पूरे एक महीने का था। उसमें सत्ताईस दिनों तक प्रतिदिन कई घंटों तक जप का क्रम चला। उस समय प्रातःकालीन प्रवचन में एक घंटे का समय जनता के लिए था। शेष समय व्यक्तिगत ध्यान, चिंतन और जप के लिए समर्पित रहा।

सत्ताईस दिनों की उस अवधि में आचार्यश्री ने दोनों समय भोजन किया। भोजन में केवल सफेद पदार्थ, जैसे–दूध, केला, चावल आदि लिए। एक सप्ताह के बाद चावल भी छोड़ दिए। केवल दूध और केला ही भोजन का आधार था। सत्ताईस दिन पूरे होते ही उन्होंने एक तेला (तीन दिन का उपवास) किया। तेले का वह अनुष्ठान सामूहिक था। पांच-सात साधु-साध्वियों को छोड़कर हिसार चातुर्मास काल में प्रवासित सभी साधु-साध्वियों ने उस सामूहिक तप अनुष्ठान में भाग लिया। उस काल में सामूहिक जप का प्रयोग भी चला।

प्रतिमाह चार एकासन का क्रम कई दशकों से चल ही रहा था। सन् 1975 में आचार्यश्री का चातुर्मास जयपुर था। उस चातुर्मास में उन्होंने लगातार एक माह तक एकासन करने का प्रयोग किया। इस प्रयोगकाल में प्रवचन, अध्ययन-अध्यापन, जनसंपर्क आदि सभी काम नियमित रूप से चलते थे। उनके लिए सायंकालीन भोजन का समय और मिल गया। इसके बाद सन् 1976 के लाडनूं चातुर्मास में भी सावन महीने में निरंतर एकासन का क्रम चला।

सन् 1981 में आचार्यश्री के सान्निध्य में जयाचार्य की निर्वाण शताब्दी मनाई गई। उस अवसर

पर आचार्यश्री ने प्रतिमाह दो उपवास करने का संकल्प स्वीकार किया, जो सन् 1982-1983 तक चलता रहा। उपवास को वे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सब दृष्टियों से उत्तम चिकित्सा मानते हैं। इस संकल्प की पूर्ति में वे उपवास के दिन पंद्रह-सोलह किलोमीटर तक चले और पारणे के दिन भी अपनी यात्रा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया।

मौन की साधना

आचार्यश्री तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य हैं। वे जैन या तेरापंथ धर्म के नहीं, मानवधर्म के प्रवक्ता हैं। उनके पास केवल जैन या तेरापंथी लोग ही नहीं आते, सब जातियों, वर्गों, और धर्मों से संबंधित लोग आते हैं। अणुव्रत और प्रेक्षा ध्यान के माध्यम से वे लोकजीवन को नई दिशा देते हैं। यही कारण है कि आचार्यश्री कभी अकेले नहीं मिलते। लोग जिज्ञासु और उत्सुक होकर आते हैं तो उन्हें समझाना भी जरूरी हो जाता है। समझाने के लिए बोलना आवश्यक है। दिन भर बोलने से शक्ति का व्यय होता है। उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने प्रतिदिन नियमित मौन करने का प्रयोग किया। सन् 1950 से प्रतिदिन दो घंटे मौन का क्रम चला, जो लंबे समय तक व्यवस्थित रूप से चला। बीच-बीच में उस क्रम में थोड़ा-थोड़ा अवरोध भी आता है। मर्यादा महोत्सव आदि कुछ प्रसंगों पर काम का भार अधिक बढ़ जाता है तो मौन छोड़ना पड़ता है। फिर भी उसकी शृंखला पुनः जुड़ जाती है। मौन से ऊर्जा का संचय होता है और वाक्शक्ति विकसित होती है, यह आचार्यश्री का अपना अनुभव है।

आगम-संपादन के लिए प्रयोग

साधु-जीवन सिद्धि का नहीं, साधना का जीवन है। साधना के द्वारा सिद्धि तक पहुंचने के लक्ष्य को साधते रहना, यही साधना की सार्थकता है। आचार्यश्री ने दीक्षा स्वीकार की, उस समय उनके सामने साधना का उद्देश्य बहुत स्पष्ट नहीं था। पूज्य कालूगणी का अप्रतिम व्यक्तित्व और मां वदना द्वारा प्राप्त संस्कार, इन दो प्रेरणाओं से वे मुनि बन गए। मुनि बनने के बाद अध्ययन और अनुभव की प्रौढ़ता से गहराई में उतरने का उत्साह जगा। धर्मसंघ का दायित्व संभालने के बाद तो उन पर यह जिम्मेदारी आ गई कि वे साधना के क्षेत्र में नए आयाम खोलें, जिससे साधु-संस्था का वर्चस्व बढ़ सके। प्रारंभिक वर्षों में आचार्यश्री सामान्य रूप से प्रयोग करते रहे और उन्हें संघ में व्यवहार्य बनाने के लिए सोचते रहे।

महाराष्ट्र के मंचर गांव में आचार्यश्री ने धर्मदूत पढ़ा। उसमें बौद्ध पिटकों के संपादन की चर्चा थी। उसे पढ़ते ही आचार्यश्री के मन की धरती पर एक नया सपना उगा—जैन आगमों का भी संपादन होना चाहिए। उन्होंने उसी समय अपने मन की बात मुनि नथमलजी (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ) के सामने खोलकर रखी। मुनि नथमलजी ने आचार्यश्री के स्वप्न को साकार करने की भावना व्यक्त की। आचार्यश्री ने उसी वर्ष काम शुरू करने का संकल्प कर लिया। उस वर्ष का चातुर्मास उज्जैन में था। वहां उन्होंने अपने संकल्प की क्रियान्विति करते समय एक तेले का प्रयोग किया। वह प्रयोग भी इतना कार्यकारी रहा कि आगम-संपादन कार्य में नित्य नए आयाम खुलते जा रहे हैं। आचार्यश्री के वाचनाप्रमुखत्व में जितना आगम साहित्य सामने आया है, विद्वानों ने उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

साधना के विशेष प्रयोग

सन् 1955 में आचार्यश्री का चातुर्मास उज्जैन था। उस चातुर्मास में आगम-संपादन का काम शुरू हुआ। आगम साहित्य में गंभीरता से प्रवेश करने का अर्थ है नई दृष्टियों का निर्माण। आचार्यश्री को भी विशिष्ट दृष्टि मिली और 'कुशल साधना' का प्रयोग प्रस्तुत कर दिया। 'कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के'— जो बंधा हुआ भी न हो और मुक्त भी न हो, वह कुशल होता है। सिद्ध मुक्त हो जाते हैं। गृहस्थ बंधे रहते हैं। ऐसी स्थिति में साधनाशील साधु ही कुशल शब्द को अर्थवान बना सकते हैं। 'अलं कुसलस्स

पमाएणं' कुशल वह होता है, जो प्रमाद नहीं करता। इस प्रकार के सूत्रों का आलंबन साधक को पग-पग पर सजग रखता है। आचार्यश्री की प्रेरणा और प्रोत्साहन से साधु-साध्वियों में नई चेतना आई। एक कुशल व्यक्ति का आदर्श हर समय उनके सामने रहने लगा। इस साधनाक्रम से कई साधु-साध्वियों के जीवन को नया प्रकाश मिला।

सन् 1963 के बाद साधु-साध्वियों को विशेष रूप से प्रशिक्षित करने के लिए 'प्रणिधान कक्ष' का प्रयोग हुआ। कुछ चुने हुए साधु-साध्वियों को ध्यान-योगासन आदि का अभ्यास करवाया गया। इसके साथ ही मध्याह्न में विचार-गोष्ठियां आयोजित की गईं। उन गोष्ठियों में व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से अनेक विषयों पर चर्चा-परिचर्चाएं होती रहीं। प्रणिधान कक्ष का क्रम चल ही रहा था। उसमें सिखाए गए प्रयोगों को सलक्ष्य क्रियान्विति करने के लिए 'भावियप्पा साधना' का नया अभिक्रम चलाया गया। इस साधनाक्रम में सेवा-भावना और निर्जरा की भावना को विकसित करने का वातावरण बना। इस सब प्रयोगों ने एक ओर आचार्यश्री के जीवन को बहुआयामी बनाया तो दूसरी ओर धर्मसंघ में ध्यान, आसन, कायोत्सर्ग आदि प्रयोगों के प्रति आकर्षण बढ़ गया। इसी क्रम में आगे चलकर प्रेक्षा ध्यान साधना की नई पद्धति आविष्कृत हो गई।

भोजन के सन्दर्भ में

उक्त सब प्रयोगों के साथ-साथ आचार्यश्री ने सन् 1982 से एक नया प्रयोग शुरू कर दिया। उस वर्ष आचार्यश्री लाडनूं में महावीर जयंती का कार्यक्रम सम्पन्न कर राणावास चातुर्मास के लिए जा रहे थे। रास्ते में अक्षय तृतीया का आयोजन बोरावड़ में था। उस समय उन्होंने चीनी, गुड़ तथा इनसे बनी हुई सब प्रकार की वस्तुओं का उपयोग बंद कर दिया। पिछले चार साल से यह संकल्प बराबर चल रहा है। आगे कब तक चलेगा, कुछ कहना कठिन है।

सन् 1982 के राणावास चातुर्मास में आचार्यश्री ने चार महीनों तक दूध छोड़ दिया। उसके बाद बालोतरा और जोधपुर में दो माह तथा आमेट में एक माह तक इस प्रयोग का प्रत्यावर्तन होता रहा। इस प्रयोग के बाद आचार्यश्री ने अनुभव किया कि कई महीनों तक दूध छोड़ने के बाद भी स्वास्थ्य पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता है। आमेट चातुर्मास के आखिरी महीने में आचार्यश्री ने जो प्रयोग किया, वह तो और भी विचित्र था। उस प्रयोग में दूध, दही आदि सब 'विगय' से तो परहेज था ही, चुपड़ी हुई चपाती भी काम में नहीं आती थी। भोजन की मात्रा भी अत्यंत सीमित थी। प्रातःकाल थोड़ी-सी आछ (गर्म छाछ के ऊपर का पानी), मध्याह्न और सायंकाल के भोजन में एक-एक लूखी चपाती, बिना घी-तेल की सब्जी और थोड़े से चावल। इस प्रयोग को बंद करने के लिए काफी अनुरोध किया गया। पर उन्होंने इसे बहुत ही अच्छा और उपयोगी बताकर पूरे एक माह तक इस क्रम को चलाया।

सन् 1984 का मर्यादा महोत्सव बीदासर में सम्पन्न कर आचार्यश्री सरदारशहर पधारे। वहां चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन से उन्होंने एक विशेष अनुष्ठान शुरू किया। उस अनुष्ठान में निरंतर चार महीनों तक एक घंटा विधिवत् जप का प्रयोग किया जाता। इस अवधि में भोजन के समय एक साथ एक अन्न से अधिक अन्न तथा नौ द्रव्यों से अधिक द्रव्यों का उपयोग नहीं होता। इस प्रयोग में भी आचार्यश्री को विशेष आत्मतोष मिला। इसीलिए अनुष्ठान पूरा होने के बाद भी काफी दिनों तक एक अन्नवाला संकल्प आगे चलता रहा।

संवेदना के फलक पर

सन् 1986 में आचार्यश्री के आचार्यकाल के यशस्वी पचास वर्ष पूरे हो रहे हैं। पचास वर्षों के इस सफर में उन्होंने अन्य विशेष क्या प्रयोग किए, इस संबंध में वे व्यक्ति अधिक जान सकते हैं, जो दिन-रात आचार्यश्री के अंतरंग क्षणों के साक्षी रहे हैं। पर इस बात को तो अनेक व्यक्ति जानते हैं कि जब

कभी संघ के किसी भी साधु-साध्वी को प्राकृतिक या क्षेत्रीय कठिनाई का सामना करना पड़ा, आचार्यश्री ने अपने प्रयोग शुरू कर दिए। संतों को सौराष्ट्र में स्थान आदि की सुविधा नहीं मिली, उस समय आचार्यश्री ने भोजन की मात्रा बहुत सीमित कर दी। उसी श्रृंखला में सन् 1984 में जब पंजाब में ऑपरेशन ब्लूस्टारवाली घटना घटी और पंजाब की संचार-व्यवस्था ठप हो गई, आचार्यश्री ने संकल्प कर लिया कि जब तक पंजाब में प्रवासी साधु-साध्वियों के सुख-संवाद नहीं मिलेंगे, दूध नहीं पीऊंगा। उन दिनों वे लाडनूं से प्रस्थान कर जोधपुर चातुर्मास के लिए जा रहे थे। लाडनूं से नागौर तक यह संकल्प चला। नागौर से पहले यह संवाद मिल गया था कि पंजाब में साधु-साध्वियों को कोई तकलीफ नहीं है। फिर भी जब तक एक-एक वर्ग के पूरे संवाद नहीं मिले, तब तक उन्होंने दूध का उपयोग नहीं किया। पूरे धर्मसंघ के साथ तादात्म्य का यह कितना सुंदर उदाहरण है।

सामूहिक प्रयोग

सन् 1986, आमेट चातुर्मास में आचार्यश्री ने सामूहिक रूप में एक नया प्रयोग किया। उस प्रयोग में उन्होंने आमेट में प्रवासित प्रायः सब साधु-साध्वियों के साथ नौ दिवसीय प्रेक्षा ध्यान प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया। उन नौ दिनों में जनसंपर्क कम-से-कम रहा। आचार्यश्री प्रातःकालीन प्रवचन नियमित रूप से करते थे। वे प्रातः एवं सायं लोगों के बीच में बैठते, पर न तो किसी को बात करने की इजाजत थी और न ही चरणस्पर्श की। गृहस्थ तो क्या, साधु भी चरणस्पर्श नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार साधु-साध्वियां परस्पर चरणस्पर्श कर वंदना नहीं कर सकते और न ही साधना के अतिरिक्त किसी प्रसंग में बैठकर बात कर सकते थे। उन दिनों साधु-साध्वियों को अपनी चर्चा में निम्नलिखित बिंदुओं पर विशेष ध्यान देना जरूरी था—

- भावक्रिया का अभ्यास करना।
- प्रायः मौन रहना।
- भोजन में सीमित द्रव्यों का उपयोग करना।
- सामूहिक गोष्ठियों में बराबर उपस्थित रहना।
- परस्पर चरण-स्पर्श नहीं करना, गृहस्थों से भी चरण-स्पर्श नहीं करवाना।
- पत्र-पत्रिका आदि नहीं पढ़ना।
- ध्यान, कायोत्सर्ग, योगासन आदि नियमित रूप से करना।

दिन के सारे कार्यक्रम ध्यान, कायोत्सर्ग विचार-गोष्ठी आदि आचार्यश्री के सान्निध्य में सामूहिक रूप से चलते। रात्रि में साध्वियां अपने आवास-स्थल पर प्रयोग करती और साधुओं को आचार्यवर की सन्निधि प्राप्त होती। ध्यान का प्रशिक्षण युवाचार्यश्री देते थे। नौ दिनों में ध्यान के अनेक प्रयोग करवाए गए ताकि साधु-साध्वियां अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार उनको आगे बढ़ाते रहें।

उस नौ दिवसीय प्रयोग में साधु-साध्वियों को एक नई जीवनशैली मिली, यह कहा जाए तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। कई साधु-साध्वियां, जिनको ध्यान में रस ही नहीं था, वे भी अच्छा ध्यान करने लगे। वह क्रम अपने आप में अनूठा और आकर्षक था। परत-दर-परत जमे हुए संस्कारों को उखाड़ने के लिए बार-बार वैसे अभ्यास-शिविरों की अपेक्षा अनुभव की गई।

आचार्यश्री ने अपने व्यक्तिगत जीवन और संघीय जीवन में अध्यात्म के धरातल पर जो प्रयोग किए, उनमें से कुछ प्रयोगों को यहां उल्लिखित किया गया है। प्रशासनिक क्षेत्र में किए गए उनके प्रयोग भी अद्भुत हैं। एक आध्यात्मिक अनुशास्ता के प्रशासनिक प्रयोगों में भी अध्यात्म का प्रतिबिंब तो रहेगा ही, इस बात को ध्यान में रखकर विचार किया जाए तो आचार्यश्री का जीवन अपने आपमें एक प्रयोगशाला है। उनके आसपास रहनेवाले भी प्रायोगिक जीवन जीना सीखें, यह अपेक्षा है। ❑

जिनकी पावन सन्निधि का हर प्रसंग प्रेरणा बन गया

धर्म के बारे में नया बोध

आचार्यवर लखनऊ में प्रवास कर रहे थे। प्रसिद्ध उपन्यासकार कॉमरेड यशपाल आए, बैठे और बोले–'आचार्यजी! मैं धर्म-कर्म को नहीं मानता।' आचार्यश्री ने कहा–'कोई हरज नहीं, हम किसी अन्य विषय पर चिंतन करें।' कई विषयों पर चर्चा-परिचर्चा के पश्चात् आचार्यश्री ने पूछा–'यशपालजी! मैत्री में विश्वास करते हैं? यशपालजी ने सकारात्मक उत्तर दिया। आचार्यश्री ने सत्यनिष्ठा के बारे में पूछा तो उन्होंने स्वीकृति दी।

आचार्यवर ने सहअस्तित्व और सच्चरित्र के विषय में जानना चाहा तो उनका सकारात्मक उत्तर मिला। आचार्यश्री गंभीरता के साथ बोले–'आपने कैसे कहा कि मैं धर्म में विश्वास नहीं करता।' यशपालजी चौंके और बोले–'आचार्यजी! क्या यही धर्म है?'

आचार्यप्रवर ने प्रसन्न दृष्टि से उनकी ओर देखते हुए कहा–'आप जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति ने यह क्यों मान लिया कि क्रियाकाण्ड ही धर्म है।' धर्म और अणुव्रत के संदर्भ में विस्तार से बात करने के बाद यशपालजी बोले–'आचार्यजी! आपने जो व्याख्या की है, यदि वही धर्म है तो अणुव्रत को मेरा पूरा-पूरा सहयोग/समर्थन है।'

❖❖❖❖

संग्रह की मनोवृत्ति

ईस्वी सन् 1960 का प्रसंग है। मेवाड़ यात्रा के दौरान आचार्यवर का सायरा गांव में प्रवास था। एक दिन प्रात:काल आचार्यवर पंचमी समिति से लौट रहे थे। रास्ता पगडंडी का था। वहां चींटियों के बिल थे। सैकड़ों चींटियां इधर-उधर दौड़धूप कर रही थीं। ध्यान से देखने पर पता चला कि वे निकटवर्ती खेतों से अनाज के कण इकट्ठे कर रही है। आचार्यवर ने देखा कि छोटी-सी कायावाली चींटियां बिलों के पास अनाज के दानों के छोटे-छोटे पहाड़ खड़े कर रही हैं।

आचार्यवर के कदम रुके। उन्होंने साथ चल रहे संतों और श्रावकों को संबोधित कर कहा–'एक दाने जितना इनका शरीर नहीं है, पर संग्रह की मनोवृत्ति असीमित है। उसी का परिणाम है कि ये लोभसंज्ञा के नशे में इधर-उधर बिना लक्ष्य बेतहाशा भागदौड़ कर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रही हैं। न इनको हित का ज्ञान है और न मंजिल की पहचान है।'

चींटियों के माध्यम से मनुष्य की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए आचार्यश्री ने कहा– 'अनावश्यक संग्रह की बढ़ती मनोवृत्ति विवेकसम्पन्न मनुष्य को इसी प्रकार भटकाती रहती है।'

श्रम से स्वास्थ्य अच्छा रहता है

13 अगस्त, 1996 की बात है। राजस्थान के भूतपूर्व वित्तमंत्री श्रावक चन्दनमलजी बैद रतनगढ़ के वरिष्ठ कार्यकर्ता इंदौरियाजी के साथ जैन विश्व भारती में आचार्यश्री के दर्शन करने आए। एक दिन के प्रवास में उन्होंने देखा कि आचार्यश्री श्रम बहुत कर रहे हैं। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि आचार्यश्री का स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा कमजोर है। अत: उन्होंने निवेदन किया–'पहले से स्वास्थ्य कुछ कमजोर लग रहा है।'

आचार्यवर ने चन्दनमलजी के निवेदन पर असहमति प्रकट करते हुए कहा–'नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्यत: स्वास्थ्य ठीक ही है। सुबह से लेकर रात्रि के निश्चित समय तक व्यवस्थित कार्य चलता है। अध्ययन, अध्यापन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग और संघीय कार्यों के साथ श्रावकों के बीच भी दोपहर में कुछ-न-कुछ चलता ही रहता है। इन दिनों व्याख्यान में केवल रविवार को ही जाता हूं।' बैदजी ने साश्चर्य कहा–'इस अवस्था में इतना श्रम! आपके जीवन से हमें श्रम की प्रेरणा मिलती है।'

आचार्यप्रवर ने श्रमनिष्ठा का महत्त्व बताते हुए कहा–'श्रम करना मेरी सहज प्रकृति है। मैं श्रम के बिना रह नहीं सकता। मेरा अनुभव है कि श्रम से स्वास्थ्य अच्छा रहता है।'

❖❖❖❖

फीस लेते हैं और पद देते हैं

आचार्यश्री अहियागंज (लखनऊ) में प्रवास कर रहे थे। वहां भगत नाम से प्रसिद्ध धनपालसिंहजी जैन संपर्क में आए। वे प्रज्ञाचक्षु थे, फिर भी ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता थे। वे तीनों समय संतों की उपासना करते और ज्ञान का आदान-प्रदान करते रहते।

एक दिन वे आचार्यश्री के पास आए और बोले–आचार्यजी! मेरे मन में संतों के प्रति श्रद्धा कम है। किंतु इस बार मेरे मन पर जादू-सा हो गया। अब मुझे आपके यहां आए बिना चैन ही नहीं मिलता। आपके संघ में मुझे दो विशेषताएं दिखीं। पहली, यहां चंदे या फीस की कोई चर्चा नहीं है। दूसरी बात, यहां पद का कोई झंझट नहीं है। संभव है, इन्हीं विशेषताओं ने मेरी आस्था को आकृष्ट किया है।'

आचार्यश्री ने विनोद के लहजे में कहा–'भगतजी! हम फीस भी लेते हैं और पद भी देते हैं।' आचार्यश्री के ये शब्द सुनकर भगतजी आश्चर्यचकित हो गए और बोले–'वह कैसे?'

आचार्यश्री ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा–'भगतजी! इतने दिनों से देख रहे हैं कि जो भी हमारे संपर्क में आता है, हम उससे संयम की फीस लेते हैं और अणुव्रती का पद देते हैं।'

भगतजी ने मुक्त हास्य बिखेरते हुए कहा–'मैं यह फीस भी दूंगा और पद भी लूंगा।'

❖❖❖❖

बात-बात में बोध

आचार्यश्री भोजन के बाद कमरे में टहल रहे थे। उनका ध्यान खिड़की में पड़ी एक पुड़िया की ओर गया। उन्होंने तत्काल वहां खड़े संतों को निर्देश दिया–'देखो, वहां क्या है?'

पुड़िया हाथ में लेकर एक संत ने निवेदन किया-'गुरुदेव! चीनी है।' गुरुदेव ने उस पुड़िया को गहरी नजरों से देखा और चीनी के चार गुणों की ओर संतों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा–

1. एक पुड़िया में चीनी के सैकड़ों दाने हैं। प्रत्येक दाने का स्वतंत्र अस्तित्व है। फिर भी सब मिलजुल कर रहते हैं। यह अनेकता में एकता का बोधपाठ है।
2. चीनी का रंग सफेद है, उजला है। यह चरित्र को उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा देता है।
3. चीनी को पानी या दूध में डालने पर वह उसमें घुलमिल जाती है। चीनी का यह गुण मिलनसारिता का प्रतीक है।
4. चीनी मीठी होती है। उसकी मधुरता से व्यावहारिक जीवन को मधुर बनाने की शिक्षा मिलती है।

❖❖❖❖

एक दिन में आदमी बना दिया

मुंबई से सुंदरलालजी मेहता (मजेरा) प्रसिद्ध पत्रकार श्री नंदकिशोर नौटियाल के साथ गंगाशहर आए। उन्होंने आचार्यश्री के दर्शन किए। नौटियालजी बोले–'गुरुदेव! अचानक आपके दर्शनों की इच्छा जागृत हुई और हम यहां पहुंच गए।' आचार्यश्री ने कहा–'हमारे मन में भी अचानक ही विचार उठा कि सुंदर और नौटियाल कैसे नहीं आए?' यह है टेलीपैथी का एक उदाहरण।

बातचीत के बीच नौटियालजी बोले–'मुंबई में मुझसे कुछ व्यक्तियों ने कहा–तुम आचार्य तुलसी के बारे में इतना लिखते हो तो अन्य लोगों के बारे में क्यों नहीं लिखते? मैंने उत्तर दिया–'मैं आचार्य तुलसी के बारे में इसलिए लिखता हूं कि वे आदमी को आदमी बनाते हैं। अन्य कोई आदमी को आदमी बनानेवाला हो तो बताओ। मैं उनके बारे में भी लिखूंगा।'

मेरे कथन पर अविश्वास प्रकट करते हुए एक सज्जन ने कहा–'आचार्यजी ने किस आदमी को आदमी बनाया है?'

मैं बोला–'इसका जीता जागता उदाहरण मैं हूं। एक समय था, जब मैं शराब पीता था। जर्दा-तंबाकू आदि खाता था। अब मैं इनसे मुक्त हूं।

❖❖❖❖

मन सफेद रहना चाहिए

सन् 1994 की बात है। अध्यात्म साधना केन्द्र (दिल्ली) में आचार्यश्री का प्रवास था। एक दिन मध्याह्न में आचार्यश्री 'भगवती जोड़' का काम कर रहे थे। अचानक जयपुर से संघप्रवक्ता चंदनमलजी बैद सपरिवार दर्शन करने पहुंचे। उन्होंने अपने पारिवारिक सदस्यों का परिचय कराया। आचार्यश्री ने उनको स्वाध्याय, सामायिक आदि धार्मिक अनुष्ठान करने की प्रेरणा दी। बातचीत के प्रसंग में बैदजी ने कहा—'हम जयपुर से दिल्ली आए हैं। हमने देखा कि सड़क पर वाहनों का आवागमन बहुत होता है। वाहन धुआं इतना छोड़ते हैं कि थोड़ी देर में सफेद कपड़ों का रंग काला हो जाता है।'

आचार्यप्रवर ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा—'कपड़े काले होते हैं, तब तक चिंता की कोई बात नहीं है। कपड़े भले ही काले हों, पर मन सफेद रहना चाहिए। उस पर कलुष विचारों की कालिमा न छा जाए, यह जागरूकता अवश्य रहनी चाहिए।

❖❖❖❖

धन्य है वह मां

साध्वी भाग्यवतीजी (श्रीडूंगरगढ़) ने वि. सं. 2048 का चातुर्मास मारवाड़ जंक्शन में किया। चातुर्मास से पहले वह चावड़िया ग्राम में कई दिन रुकीं। वहां तेरापंथी परिवार बहुत कम थे। पर अन्य जाति के लोगों की श्रद्धा-भक्ति अच्छी थी। एक दिन साध्वी मंजूकुमारीजी और साध्वी शरदप्रभाजी वहां के रावले में प्रवचन करने गई। ठाकुर-ठकुरानियां प्रवचन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।

साध्वियां लौटनें लगीं तो वहां उपस्थित राजपूत महिलाएं बोलीं-'महाराज! आचार्य तुलसी यहां पधारे थे। हमारे आंगन में उनका पगफेरा क्या हुआ, हमारा तो कल्याण ही हो गया। उन्होंने हमें निहाल कर दिया। हम तो उनका उपकार भव-भव में नहीं भूलेंगी।'

साध्वियों ने पूछा–'आचार्यश्री के यहां आने मात्र से आपका कल्याण कैसे हुआ?' महिलाएं बोलीं–'साध्वीजी! ये ठाकुर लोग शराब पीकर पागल हो जाते थे और हमारी खूब पिटाई करते थे। हमने वर्षों तक घोर यातना सहन की। हमारा जीवन अशांत, दुःखी और क्लेशमय था। आचार्यश्री तुलसी ने सभी को शराब का त्याग करा दिया और हमें सुखी बना दिया। हम तो यह कामना करते हैं कि ऐसे त्यागी संत महात्मा हमारे गांव में बार-बार पधारें, जिससे हमारा यह जन्म ही नहीं, आगे का जन्म भी सुधर सके। धन्य है वह मां, जिसने आचार्य तुलसी जैसे राष्ट्रसंत को जन्म दिया।'

❖❖❖❖

मैं इतना बड़ा नहीं

प्रात:कालीन विहार काफी लम्बा था। गांव में पहुंचने पर प्रवचन हुआ। प्रवचन के बाद साधु-साध्वियों ने भिक्षा की। भोजन के पश्चात् आचार्यश्री विश्राम करने की तैयारी कर रहे थे। उसी समय प्रसिद्ध लेखक एस. एस. जयगोविंद आचार्यवर से बात करने पहुंच गए। आचार्यश्री तत्काल तरोताजा मुद्रा में बैठ गए और बोले–कहिए, आपकी जिज्ञासा क्या है? बिछौना देखकर उन्होंने कहा–'आचार्यजी! आप लेट जाइए। आप मेरे प्रश्नों का उत्तर लेटे-लेटे ही दे दीजिए।'

आचार्यवर ने उनका निवेदन अस्वीकारते हुए कहा–'मेरी दृष्टि में आराम से अधिक महत्त्व काम का है। दूसरी बात, आप मेरे साथ बात करने के लिए बहुत दूर से आए हैं। एक जिज्ञासु व्यक्ति इतनी निष्ठा से आए और मैं सोया-सोया उत्तर दूं, इतना बड़ा आदमी मैं नहीं हूं। ऐसा करना मुझे उचित भी नहीं लगता।'

आचार्यश्री की उदारता और आत्मीयता ने जयगोविंदजी को अभिभूत कर दिया। वे अपनी जिज्ञासाओं के पंख खोलते ही गए क्योंकि आचार्यश्री के पास समाधान का व्यापक आकाश था।

लगभग एक घंटे तक वह क्रम चला। दोनों ओर आत्मतोष का भाव मुखर हो रहा था।

❖❖❖❖

आध्यात्मिक पोषण

तेरापंथ समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्ति आचार्यवर की उपासना में बैठे थे। अवसर देखकर उन्होंने निवेदन किया–'भंते! हमें कुछ प्रतिबोध दीजिए।'

निश्चय नय के संदर्भ में व्याख्या करते हुए आचार्यवर ने कहा–'आत्मा और शरीर दोनों अनादिकालीन साथी हैं। एक को पूरी खुराक मिले और दूसरे को कुछ भी नहीं, क्या यह अच्छी बात है? व्यक्ति हमेशा शरीर को तो सहजता से देखता है, उसे स्वस्थ रखना चाहता है, पर आत्मा को भूल जाता है। यह आत्मा के साथ न्याय नहीं है। शरीर की भांति आत्मा को भी खुराक देनी आवश्यक है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, सामायिक आदि के द्वारा आत्मा को भावित करना ही सच्ची खुराक है। आप सभी इनमें से एक या एकाधिक दिशा में आगे बढ़ने का संकल्प करें, यही प्रतिबोध है।'

शरीर या पदार्थ पर ही जिन लोगों का ध्यान केंद्रित था, उन्हें अनायास ही नई दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा मिल गई। उन्होंने अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार संकल्प ग्रहण कर सही दिशा में प्रस्थान किया।

❖❖❖❖

कुप्रथा भी बेड़ी है

मेवाड़ के गोगुंदा गांव में आचार्यवर का प्रवास था। वहां के प्रमुख भाइयों ने एक बहन को दर्शन देने के लिए पधारने की प्रार्थना की। आचार्यवर ने पूछा–'क्या बात है?' भाइयों ने कहा–'अमुक श्रावक का देहांत हुए अभी पांच महीने ही हुए हैं, उसकी पत्नी को दर्शन देने हैं। वह नौ महीने तक घर से बाहर नहीं जा सकती। घर से ही क्या, एक कमरे से बाहर भी नहीं जा सकती। उसे अपने छोटे-बड़े सभी काम वहीं करने पड़ते हैं।'

आचार्यवर ने निवेदन करनेवाले भाइयों से कहा–'नौ महीने तक आर्त-ध्यान में रहना पाप है या उससे बाहर निकलना पाप है, यह आपकी समझ में क्यों नहीं आता? ऐसी कुप्रथा को पोषण देने के लिए कहीं जाने की मेरी मानसिकता नहीं है। यदि उधर जाना हो तो बहन को दर्शन करा देना।' संयोग से बहन को दर्शन का मौका मिल गया। आचार्यश्री ने उसको समझाया। उसमें साहस का दीप जलाने का प्रयत्न किया। बहन का सोया साहस जागा, पर समाज का भय उसे बार-बार भयभीत कर रहा था।

आचार्यवर ने पुनः प्रेरणा दी तो बहन में नई चेतना का संचार हो गया। उसने कहा– 'आपका सच्चा सहारा मेरे पास है। मैं आज ही आपका प्रवचन सुनूंगी, काले कपड़े नहीं पहनूंगी और धर्मध्यान करने में संकोच नहीं करूंगी।' गुरु की नजर जिस व्यक्ति पर टिक जाती है, वह कुछ ही क्षणों में बेड़ियों से मुक्त हो जाता है। वह बेड़ी भले ही लोहे की हो या कुप्रथा की।

❖❖❖❖

मैं पब्लिक प्रोपर्टी हूं

आचार्यवर गोगुंदा पधारे। लोगों का उत्साह कुछ नया करने की भावना से तरंगित हो रहा था। गोगुंदावासियों ने आराध्य के स्वागत में जगह-जगह कलात्मक दरवाजे बनाए। आचार्यवर गांव के मध्य से होते हुए प्रवचन पंडाल में पधारे।

स्वागत का उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने कहा–'आज मैंने स्थान-स्थान पर सजे हुए दरवाजे देखे। उस समय मेरे मन में आया कि शायद इन लोगों ने मुझे राजनेता समझ लिया है। उनके स्वागत में इनका महत्त्व हो सकता है। संतों के स्वागत में इनकी क्या अपेक्षा है?

मैं चाहता हूं कि इन लंबे-चौड़े दरवाजों की अपेक्षा आप अपने दिल के दरवाजों को सजाएं। संकीर्णता की खाई को पाटकर व्यापक विचारों का आदर्श प्रस्तुत करें।'

अपनी बात को दूसरा मोड़ देते हुए आचार्यश्री ने आगे कहा–'मैं यह भी चाहता हूं कि आप हमें किसी जाति, संप्रदाय और धर्मविशेष के साथ न बांधें। मैं जन-जन को मानवता का पाठ पढ़ाना चाहता हूं, इसलिए जन-साधारण का हूं, किसी समाजविशेष का न होकर पब्लिक प्रोपर्टी हूं।'

❖❖❖❖

सच का सूर्योदय

आचार्यवर बंगाल यात्रा से वापस पधार रहे थे। एक दिन प्रवचन में आचार्यवर ने कहा—'काल (समय), ज्ञान और ईश्वर-तीनों निराकार हैं।' एक भाई प्रवचन के पश्चात् आचार्यवर के पास आकर बोला–'आचार्यजी! आपने काल, ज्ञान और ईश्वर को निराकार बताया, पर मनुष्य के दिमाग ने तो घड़ी, पुस्तक और मूर्ति बनाकर इन तीनों को आकार दे दिया। फिर कैसे मानें कि ये निराकार हैं।'

आचार्यश्री ने उस भाई को समझाते हुए कहा–'घड़ी, पुस्तक और मूर्तियां-तीनों काल, ज्ञान और ईश्वर को जानने के माध्यम हैं। ये स्वयं काल, ज्ञान और ईश्वर नहीं हैं। घड़ी के रुकने से काल रुकता नहीं, पुस्तक के फटने से ज्ञान फटता नहीं और मूर्ति के टूटने से ईश्वर टूटता नहीं। इससे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि ये तीनों निराकार हैं।'

भाई विनम्र भाव से बोला–'आचार्यजी! आपने मेरे अज्ञान का अन्धकार दूर कर दिया। मैं हमेशा भ्रमित हो जाता था। आज मेरे सामने सच का सूर्योदय हो गया।'

❖❖❖❖

बिना कुछ किए धार्मिक

आचार्यश्री अहमदाबाद में प्रवास कर रहे थे। सन् 1967 के सितम्बर का अन्तिम सप्ताह। अहमदाबाद हाउसिंग सोसायटी के चेयरमैन, महाराष्ट्र सरकार के भूतपूर्व मंत्री श्री नारायणराव पाटिल आचार्यश्री की सन्निधि में बैठे थे। आचार्यश्री ने उनको धार्मिक जीवन जीने की प्रेरणा दी। वे बोले–'धर्म के प्रति लगाव तो है, पर समय नहीं है।'

आचार्यश्री ने कहा–'अतिरिक्त समय लगाए बिना धर्माराधना कर सकते हैं या नहीं?' पाटिल महोदय इसके लिए उत्सुक हो उठे। उनकी अधीरता देखकर आचार्यश्री ने कहा–'आप जैसे व्यस्त लोगों के लिए हमने धर्म की नई व्याख्या की है।'

'यही तो मैं सुनना चाहता हूं', पाटिलजी के ऐसा निवेदन करने पर आचार्यवर ने कहा–'धर्म का अर्थ है जीवन की पवित्रता। धार्मिक बनने के लिए न तो आपको संन्यास लेने की जरूरत है, न क्रियाकांड करने की जरूरत है। आप जो कुछ हैं, ईमानदारी के साथ दीखने का प्रयत्न करें। आप जो कुछ कर रहे हैं, उसमें पूरी तरह से प्रामाणिक रहें। आप किसी को धोखा न दें, किसी को सताएं नहीं। बस यही धर्म है। क्या आपके पास ऐसा करने के लिए समय नहीं है?' धर्म की इस नई परिभाषा ने पाटिल महोदय को भीतर तक भिगो दिया। उन्होंने अपने जीवन की रिक्तता को दूर होते हुए देखा और अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ कहा–'आचार्यजी! आपने बिना ही कुछ किए मुझे धार्मिक बना दिया।'

❖❖❖❖

महातपस्वी आचार्यश्री महाश्रमण द्वारा संकल्पित आध्यात्मिक महायज्ञ

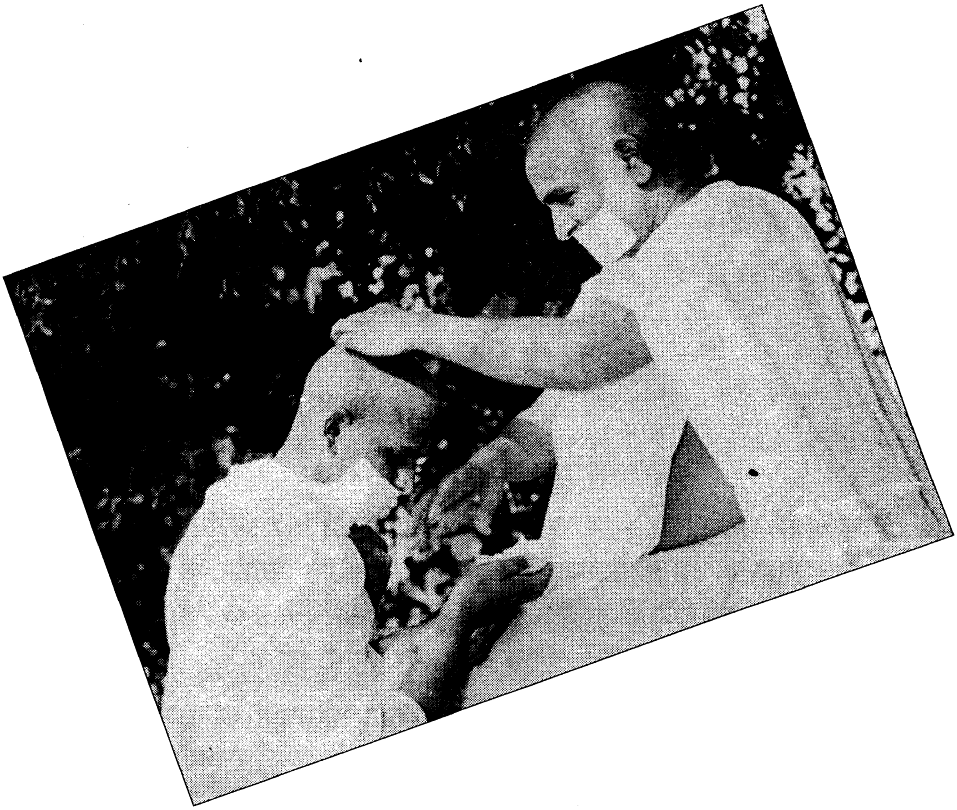

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष पर
संसार से संन्यस्त
एक शतक
भव्य चेतनाओं का
पुनर्जन्म हो रहा है..............

दीक्षा की कसौटी : योग्यता या अवस्था

'दीक्षा तु व्रतसंग्रहः'—व्रतों के कवच को धारण करने का नाम है दीक्षा। आत्महित साधने की दिशा में प्रस्थान करने का नाम है दीक्षा। कुछ लोगों की दृष्टि में दीक्षा का अर्थ है संसार को पीठ दिखाना। मेरे अभिमत से संसार से भागने का नहीं, जागने का नाम दीक्षा है। वर्तमान युग का नवाचार है चरित्रहीनता। राजनीति, साहित्य, व्यवसाय, कला आदि सभी क्षेत्रों में इसका प्रवेश हो गया है। संचार-माध्यमों के द्वारा एक क्षेत्र की बुराई आसानी से दूसरे क्षेत्र में धकेल दी जाती है। देश के लाखों-करोड़ों किशोर हत्या, अपहरण, चोरी, लूटपाट, धूम्रपान, मद्यपान आदि अवांछित प्रवृत्तियों के दृश्य देखते हैं और संवाद सुनते हैं। उनके कच्चे मन पर ऐसा प्रभाव होता है कि वे रोमांच, कुतूहल और अनुकरण की प्रेरणा से ऐसे अंधेरे गलियारों में घुस जाते हैं, जिनके किसी छोर पर रोशनी नहीं मिलती। ऐसे प्रसंगों में व्यक्तित्व-विकास और मानवाधिकार की चर्चा शून्य में खो जाती है। कुछ किशोर संयम-साधना और चरित्र-विकास के पथ पर अग्रसर होते हैं तो मानवाधिकार आड़े आ जाता है। समझ में नहीं आता कि यह सब क्या है?

भारतीय संस्कृति में दीक्षा के अनुष्ठान को एक उदात्त और निर्माणकारी अनुष्ठान माना गया है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों संस्कृतियों में दीक्षा की परंपरा प्राचीनकाल से चली आ रही है। दीक्षा कोई बच्चों का खेल नहीं है कि जिसे चाहे दीक्षा दे दी जाए। इसके साथ साधना और संस्कारों का योग होता है। वेश, नाम आदि का परिवर्तन और घर को छोड़ना ही दीक्षा नहीं है। दीक्षा में दृष्टि और चित्त—दोनों का परिमार्जन होता है। ऐसा होने से ही जीवन में परिवर्तन घटित हो सकता है।

वास्तव में दीक्षा एक पवित्र संस्कार है। यह साधना और आराधना की ऐसी प्रक्रिया है, जिसके आधार पर संस्कृति जीवित रहती है। दीक्षार्थी के उद्देश्य और परिवेश को नजरंदाज कर उसे दीक्षित करने का औचित्य किसी की समझ में नहीं आ सकता। बिना सुदृढ़ पृष्ठभूमि के होनेवाली दीक्षा की आलोचना होती है, उसे कैसे रोका जा सकता है?

मैं दीक्षा को व्यक्तित्व-निर्माण और रूपांतरण की प्रक्रिया मानता हूं। फिर भी योग्यता का परीक्षण किये बिना दी जानेवाली दीक्षा पर मेरी सहमति नहीं है। दीक्षार्थी के अपने संस्कार कैसे हैं? उसके परिवार के संस्कार कैसे हैं? इस संबंध में पूरी जांच-पड़ताल किये बिना दीक्षा नहीं दी जानी चाहिए। कहीं छोटे-छोटे बच्चों को साधु-साध्वियों के संरक्षण में पाल-पोस कर बड़ा किया जाए, पैसे देकर बच्चों को खरीदा जाए, आर्थिक पक्ष की कमजोरी का लाभ उठाया जाए, धर्मांतरण किया जाए—ये सब विडंबनाएं हैं। ऐसा करनेवाले दीक्षा को भी एक व्यवसाय का रूप दे देते हैं। जो हर दृष्टि से अनुचित है, गलत है। जो गलत है, वह सभी जगह गलत है। उसका औचित्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

उद्देश्य स्पष्ट हो, परिवेश साफ-सुथरा हो और पृष्ठभूमि पुष्ट हो तो दीक्षा से बढ़कर कोई संस्कार नहीं है। इसलिए दीक्षा होनी चाहिए, अवश्य होनी चाहिए, पर होनी चाहिए योग्य की दीक्षा। अयोग्य व्यक्ति द्वारा दीक्षा लेना और अयोग्य को दीक्षा देना–ये दोनों कार्य व्यक्ति और समाज के लिए अहितकर हैं।

यहां प्रश्न हो सकता है कि योग्यता की कसौटी क्या है? मेरे विचार से योग्यता की अनेक कसौटियां हैं। अवस्था को ही योग्यता की कसौटी मानना एकांगी आग्रह है। अवस्था को भी एक कसौटी माना जा सकता है, पर वही सब कुछ नहीं है। बालकों की ही दीक्षा होनी चाहिए, यह चिंतन जितना भूल भरा है, उतना ही भूल भरा चिंतन यह है कि बालकों की दीक्षा होनी ही चाहिए। योग्यता के अभाव में तरुणों और वृद्धों की दीक्षा को मैं आध्यात्मिक संस्कृति में विकृति का प्रवेश मानता हूं तो योग्य बालकों की दीक्षा को प्रतिबंधित करना आध्यात्मिक संस्कृति पर कुठाराघात समझता हूं। आदि शंकराचार्य जैसे योग्य बालकों की दीक्षा जिस किसी संप्रदाय में हुई है, उससे उसका गौरव बढ़ा है। योग्य बालकों ने दीक्षित होकर संस्कृति की सेवा की है, समाज की सेवा की है। उन्होंने समाज को जो अवदान दिया है, समाज कभी उसका ऋण नहीं चुका सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि आज जनमत बालदीक्षा के पक्ष में नहीं है। जनमत का आदर होना चाहिए। मैं स्वयं जनमत को महत्त्व देता हूं, पर कब? जब जनता प्रशिक्षित हो। उसके मत पर विचारशीलता और विवेकशीलता की छाप हो। विचार और विवेक से शून्य जनमत भेड़चाल से अधिक कुछ नहीं है। वह अच्छी बात का समर्थन कर सकता है और बेतुकी एवं बेबुनियाद बात को लेकर भी बैठ सकता है। जनमत से समाज और राष्ट्र का हित सधता हो तो उसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है, किंतु गलत जनमत के पीछे चलना समझदारी नहीं मानी जा सकती।

बचपन ऐसी अवस्था है, जिसमें अच्छे संस्कार, अच्छी शिक्षा और अच्छी साधना का प्रारंभ हो जाए तो नई संभावनाओं को उजागर किया जा सकता है। मेरी दृष्टि में संस्कार-संप्रेषण और व्यक्तित्व-निर्माण के लिए बचपन से बढ़कर कोई अवस्था नहीं है। इसके लिए उदाहरण की अपेक्षा हो तो मैं अपना नहीं, आचार्य महाप्रज्ञ का उदाहरण प्रस्तुत करता हूं।

महाप्रज्ञ दस वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर मेरे पास आए। आज वे कहां पहुंचे हैं और क्या कर रहे हैं? मुझे बताने की जरूरत नहीं है। जिनकी योग्यता देखकर मैंने अपने आचार्य पद का विसर्जन कर दिया, जिनको संघ के सर्वोच्च शिखर तक पहुंचा दिया, उनमें क्षमताओं का बीजारोपण कब हुआ? महाप्रज्ञ का साहित्य, चिंतन और वक्तृत्व आज सबके सामने है। फिर भी यह कहा जाता है कि बालदीक्षा होनी ही नहीं चाहिए। यह भेड़चाल नहीं तो क्या है?

दीक्षा के मामले में तेरापंथ धर्मसंघ की गतिविधि सर्वथा अलग है। उसके अनुसार कोई साधु या साध्वी अपनी इच्छा से किसी को दीक्षित कर ही नहीं सकता। दीक्षा देने का एकमात्र अधिकार आचार्य के हाथ में है। वे भी पूरी जांच-परख के बाद ही किसी को दीक्षित करते हैं। जांच का कार्य 'पारमार्थिक शिक्षण संस्था' में होता है। वहां साधना और शिक्षा की पूरी व्यवस्था है। सुयोग्य संरक्षकों की देखरेख में परीक्षा का कार्य संपन्न होने पर ही दीक्षा दी जाती है। तेरापंथ की दीक्षा कैसे होती है? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है—दीक्षा समारोह में संभागिता। जिसके मन में जिज्ञासा हो, वह तेरापंथ की दीक्षा, मर्यादा-महोत्सव आदि कार्यक्रमों को साक्षात् देखे। उनके बार में जानकारी ले और उनकी तटस्थ समीक्षा करे।

स्वतंत्रता या स्वच्छंदता के युग में 700 साधु-साध्वियां, प्रबुद्ध और तार्किक साधु-साध्वियां एक डोर से बंधे हुए हैं। एक अनुशासन में रह रहे हैं। यह एक विरल उदाहरण है। जिस देश में ऐसा संगठन हो, वह उसके सौभाग्य का सूचक होता है, किंतु यह सब देखने और परखने का अवकाश ही किसे है?

मन के अंधेरों को उजालने वाला महासूर्य

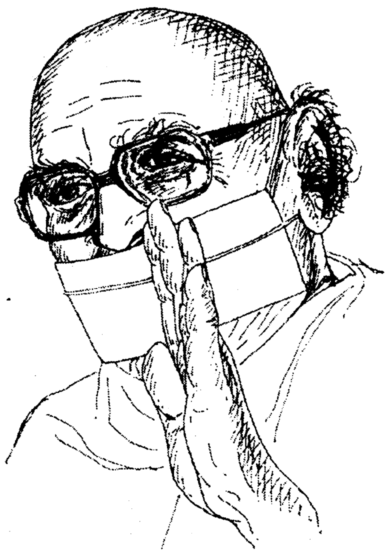

साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी लिखती हैं.... 'अकथ कथा गुरुदेव की' पुस्तक में

विक्रम की इक्कीसवीं सदी का पहला दशक। समय उस दशक के मध्य में खड़ा था। उन दिनों आचार्य तुलसी लाडनूं आए हुए थे। उनके व्यक्तित्व में कोई ऐसा तत्त्व था, जिसे देखते ही मन में विपुल विश्वास व गहरा आश्वास जाग गया। उनका सौंदर्य अर्हतों के सौंदर्य का प्रतिस्पर्द्धी था। वह मन और आंखों की सीमा में समा ही नहीं सकता। सहज प्रसन्न मुखमुद्रा, विशाल लोचन, सघन भौंहें, लंबे कान, भव्य ललाट, ललाट पर खींची दृढ़ निश्चय की रेखा, नाजुक हाथ, कोमल पांव, देखने की अनूठी अदा, बात करने का निराला ढंग। प्रथम दर्शन में ही मेरा किशोर मन उस अलबेले योगी पर निछावर हो गया। मेरे पास पारदर्शी आंखें नहीं थीं। फिर भी मुझे लगा कि इनके सफेद कपड़ों से भी अधिक उजला है इनका मन। जीवन की पवित्रता रोम-रोम से छन-छनकर बाहर टपक रही है। इस छोटी-सी देह की दीवट में कोई दिव्य ज्योति जल रही है। मैंने अनुभव किया कि मुझे इसी ज्योति की प्रतीक्षा थी। मैं उनकी ओर देखने लगी तो देखती ही रही। मन नहीं भरा, आंखें तृप्त नहीं हुई।

मेरी अनुभूतियां

जब मैंने गुरुमंत्र लिया

सुबह-शाम जब भी समय मिलता, आचार्यश्री के उपपात में पहुंचने की इच्छा रहती। घर में मन नहीं लगता। उनके चेहरे में कोई गुरुत्वाकर्षण था। उसने केवल मुझे ही नहीं खींचा था, मुझ जैसी पचासों किशोरियां उनके निकट बैठने और उनको सुनने के लिए लालायित रहती थीं। सैकड़ों-हजारों की भीड़ में उनके करीब जाने का मौका ही कम मिलता था। लोग उनको दिनभर घेरे रहते थे।

एक दिन मां ने कहा–'गुरुदेव पधारे हुए हैं, 'गुरुधारणा कर लो।' मैंने पूछा–'गुरुधारणा क्या होती है?' मां ने समझाया–'यह गुरु बनाने का तरीका है।' मैंने सोचा–'गुरु बनाऊं या नहीं, मेरे गुरु तो ये ही हैं।' मां की आज्ञा का भंग न हो, इसलिए संध्या के समय सूर्यास्त से काफी पहले ही मैं आचार्यश्री के पास चली गई। उस समय अधिक भीड़भाड़ नहीं थी। मेरा मन खुशियों से भर गया। सहमते कदमों से चलकर मैं उनके निकट गई। वे उस समय समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। वे पढ़ने में इतने तल्लीन थे कि उन्होंने आंख उठाकर मेरी ओर देखा तक नहीं। मुझे व्यवधान नहीं करना चाहिए था। पर मेरा उमगता-सा मन मुखर हो गया। मैंने निवेदन किया–'गुरुदेव! मुझे गुरुधारणा कराओ।' गुरुदेव ने वात्सल्यभरी पलकें ऊपर उठाईं, एक क्षण मेरी ओर देखा और निकटस्थ मुनि से कहा–'इसे गुरुधारणा करा दो।' मेरी सद्यस्क आस्था पर तुषारापात हो गया। गुरुमुख से गुरुमंत्र पाने की उमंग पर पानी फिर गया। मैं दिग्मूढ़ हरिणी-सी दो पल वहां खड़ी रही,

फिर दौड़कर घर पहुंच गई। दो-चार दिनों के बाद एक मौका पाकर मैं पुनः आचार्यश्री के उपपात में पहुंची। उस दिन मेरा मनोरथ फल गया। उनके मुखारविंद से इतनी निकटता से कुछ सुनने का वह प्रथम अवसर था। मुझे रोमोद्गम हुआ और ऐसा लगा मानो कोई निधान मिल गया। संभव है, उसी क्षण मेरे अवचेतन में उनकी शरण स्वीकार करने का भाव जागा हो। उस दिन मन में अनिर्वचनीय पुलकन रही। तब मैं अपनी जीवनपोथी के सातवें पन्ने को उलट-पुलट कर देख रही थी।

सार्थकता का अनुभव

मैंने सात वर्ष की उम्र में आचार्यश्री को समझपूर्वक देखा। पंद्रह वर्ष की उम्र में मुझे पारमार्थिक शिक्षण संस्था में प्रवेश मिला। उन्नीस वर्ष की उम्र में तेरापंथ की आदिभूमि केलवा में आचार्यश्री ने मुझे दीक्षित किया। दीक्षा के बाद मैं उनकी मंगल सन्निधि में साधना करने और शिक्षा पाने में व्यस्त हो गई। दीक्षित होते ही आचार्यवर ने हमें दशवैकालिक सूत्र की वाचना दी। उससे मेरी साधना का पथ प्रशस्त हुआ। उसी चातुर्मास में उनके पास 'भिक्षुशब्दानुशासनम्' पढ़ने का सौभाग्य उपलब्ध हुआ। मेरे अध्ययन की दिशा खुलने लगी। तीन वर्षों तक व्याकरण, काव्य, दर्शन और आगम पढ़ने का मौका मिला। मैंने धन्यता का अनुभव किया। उस अवधि में शाब्दिक वात्सल्य पाया या नहीं, मुझे याद नहीं है। पाया भी तो शब्दों की आकृति ध्यान में नहीं है। पर उनके अमृतभरे नयनों से झरते कृपानिर्झर से मैं सदा अभिष्णात होती रही। शिक्षा का चालू क्रम सम्पन्न होते ही आचार्यवर ने अपनी मौन कृपा को प्रथम अभिव्यक्ति दी और मुझे समुच्चय का पानी लाने के लिए नियुक्त किया। उस दिन मुझे ज्वर था। नियुक्ति के समय मैं प्रत्यक्षतः उपस्थित नहीं थी। साध्वियों ने आकर सूचना दी तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं जीवन की सार्थकता के प्रथम चरण तक पहुंच गई हूं।

लगभग आठ साल तक मुझे उदक लाने की सेवा का अवसर मिला। उस अवधि में दक्षिण भारत की लंबी यात्रा हुई। यात्राकाल में गर्मी का मौसम और लंबे विहारों में उदक लेकर आचार्यश्री की अगवानी में जाने का सबसे अधिक मौका मुझे मिला। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि सामने जानेवाली दो साध्वियों में एक प्रायः मैं होती थी। उन वर्षों में आचार्यश्री को कुछ निकटता से देखा। प्रतिदिन निकट जाने का अवसर मिलने पर भी मुझे यह अपेक्षा नहीं थी कि गुरुदेव कोई प्रेरणा दें, कभी कोई बात करें या प्रशंसा के दो शब्द कहें। किंतु एक छोटी-सी आकांक्षा मन के किसी कोने में अंगड़ाई लेकर खड़ी हो गई। मैं चाहती थी कि वे मुझे कृपापूर्ण मुस्कराती आंखों से एक बार देख लें। भीतर से कोई चाह जागती है तो वह अपने आप राह बना लेती है। आचार्यवर कभी बहुत अधिक लोगों से घिरे होते अथवा किसी विशेष कार्य में व्यस्त रहते, उस प्रसंग को छोड़कर उनके नजरों की दौलत सदा ही पाई। मेरे लिए वह सबसे बड़ा खजाना था। उससे बढ़कर मेरे जीवन की कोई उपलब्धि नहीं थी।

संकेतों की भाषा

साध्वी से साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्ति तक ग्यारह वर्षों की यात्रा में अनेक बार ऐसे प्रसंग आए, जब आचार्यश्री ने कुछ छोटे-बड़े काम करने के निर्देश दिए। मेरा एक मानसिक संकल्प था कि गुरुदेव जिस काम के लिए कहेंगे, उसे करने की कोशिश करूंगी। उसको अस्वीकार नहीं करूंगी। इस छोटे-से संकल्प ने मुझे कुछ बनने का मौका दिया। मैंने पढ़ना-लिखना सीखा। थोड़ा-थोड़ा बोलना सीखा। किसी के साथ बातचीत करने में बहुत सकुचाती थी। गुरुदेव की प्रेरणा से इस संकोच को भी कम किया। किसी नई बात पर स्वतंत्र रूप से सोचना भी शुरू किया। किंतु दायित्व के नाम से ही मैं घबराती थी। निर्देश का पालन करने की दृष्टि से मैं अभ्यस्त हो चुकी थी, पर किसी को निर्देश देने की मनःस्थिति निर्मित नहीं हुई

थी। दक्षिण यात्रा से लौटते समय एक बार आचार्यश्री ने कहा–'निर्देश पाकर काम करना एक बात है, अपनी जिम्मेदारी से काम करना दूसरी बात है। जिम्मेदारी से काम करना सीखो।' मैंने इस बात को भी बहुत साधारण रूप में लिया। क्योंकि मैंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मुझे किसी दायित्व का निर्वाह करना होगा।

दक्षिण यात्रा में आचार्यश्री ने अणुव्रत के एक स्तंभ के लिए कुछ लिखने का निर्देश दिया। उसमें मुझे स्वतंत्र रूप से कुछ लिखना नहीं था। दो-चार प्रश्न बनाकर गुरुदेव से ही उनके उत्तर लेने थे। मैंने वह काम शुरू कर दिया। मुझे उसमें आनन्द आने लगा। गंगाशहर-प्रवास के दिनों में एक बार उन्होंने कहा–'आगे महोत्सव के कार्यों की व्यस्तता बढ़ जाएगी। अणुव्रत के दो-तीन अंकों की सामग्री एक साथ ले लो।' एक दिन मध्याह्न में श्रीचरणों में उपस्थित हुई। अणुव्रत का काम हो गया। उसके बाद गुरुदेव ने बहुत सहजता के साथ कहा–'कनकप्रभा! मान लो हम तुझे कोई दायित्व सौंप दें तो तुम क्या करोगी?' दायित्व के नाम से ही शरीर में सिहरन दौड़ गई और आंखें नम हो गईं। मैंने निवेदन किया–'गुरुदेव! जिस दिन जो काम कराना हो, आप आज्ञा देते रहें। पर मैं कोई दायित्व वहन कर सकूं, इतनी क्षमता मुझमें नहीं है। मैं जैसी भी हूं, आपके सामने हूं। दायित्व का बोझ मुझे इतना दबा देता है कि मैं हिम्मतपस्त हो जाती हूं।' आचार्यश्री की पारदर्शी दृष्टि ने मेरे मन के भीतर उठते हुए तूफान को देखा और उसे शांत करते हुए कहा–'अच्छा, अभी तो जाओ। फिर कभी सोचेंगे।' मैं सर्वथा निश्चिंत होकर चली गई। गुरुदेव द्वारा प्रदत्त संकेत को भी मैंने किसी बड़े दायित्व की दृष्टि से नहीं लिया।

उन्हीं दिनों आचार्यश्री गंगाशहर से बीकानेर जानेवाले थे। वे काफी साधु-साध्वियों को गंगाशहर छोड़कर जा रहे थे। विहार से पहले उन्होंने मुझ से पूछा–'तुम कहां रहोगी?' मैंने निवेदन किया–'गुरुदेव की सेवा में बीकानेर जाना है।' आचार्यवर ने विनोद करते हुए कहा–'तुम नहीं जाओ तो समुच्चय का पानी कौन लाए?' मैंने निवेदन किया–'पानी लानेवाली साध्वियां बहुत हैं, यह तो मेरा सौभाग्य है।' आचार्यश्री हंसते हुए बोले–'देखते हैं, कितने दिन पानी लाती हो?' कुछ दिनों बाद उन्होंने बताया कि यह कथन भावी का संकेत था। किंतु मैं उसे समझ नहीं पाई। मैंने सहजभाव से कह दिया–'जब तक गुरुदेव की कृपा रहेगी, पानी लाती रहूंगी।'

यह सब कैसे हुआ?

विक्रम संवत् 1028 की माघ कृष्णा त्रयोदशी। प्रातःकाल का समय। हजारों-हजारों लोगों की उपस्थिति। सैकड़ों साधु-साध्वियां। उस दिन आचार्यश्री एक विशेष घोषणा करनेवाले थे। लगभग बाईस महीनों से तेरापंथ धर्मसंघ में साध्वीप्रमुखा का स्थान खाली था। आचार्यश्री की मानसिकता थी कि एक वर्ष और देखा जाए। किंतु साध्वियों की भावना का मूल्यांकन हुआ। माघ कृष्णा एकादशी को कुछ घटित होने का आभास मिला। किंतु कारणवश उसे टाल दिया गया।

त्रयोदशी को सूर्योदय के तत्काल बाद साध्वियां गुरु-वंदन के लिए गईं। उस समय आचार्यवर ने कहा–'आज प्रवचन के समय साध्वियों की व्यवस्था करनी है।' वातावरण में उत्साह की लहर दौड़ गई। कुछ व्यक्तियों ने अनुभवों के अश्वों की लगाम हाथ में थामी। अश्वों ने दौड़ लगाई, पर वे उन्हें मंजिल तक नहीं पहुंचा सके। मंजिल का किसी को पता भी नहीं था, फिर भी मन कहीं रुकता नहीं था। अनुमानों, संभावनाओं और कल्पनाओं की भीड़ में नए-नए चेहरे उभरते गए और नेपथ्य में जाते रहे। कुतूहल उत्कंधर होकर देख रहा था। पूरी जनसभा की यही स्थिति थी।

दस बजे के बाद आचार्यश्री ने इष्ट का स्मरण किया और अपने हाथ से लिखा नियुक्ति पत्र पढ़ा। तुमुल हर्षध्वनि के बीच उन्होंने कहा–'कनकप्रभा!

आगे आ जाओ।' मैंने वे शब्द सुने, पर मैं यह नहीं समझ सकी कि आचार्यवर का वह आमंत्रण मेरे लिए था। मैं बैठी रही। निकटस्थ साध्वियों ने मुझे सूचित किया–'गुरुदेव तुम्हें आगे बुला रहे हैं।' मैं हड़बड़ाकर उठी। साध्वियों से रास्ता मांगने की जरूरत ही नहीं पड़ी। उन्होंने अपने आप ही रास्ता दे दिया। मैं यंत्र-चालित-सी साध्वियों की अग्रिम पंक्ति से भी आगे पहुंच गई। क्या कहूं? क्या करूं? मैं कुछ समझ नहीं पाई। मेरे असमंजस को तोड़ते हुए आचार्यवर ने मुझे खड़ी होने के लिए निर्देश दिया। मैं खड़ी हो गई। मैं खड़ी-खड़ी कांप रही थी। दिल जोर-जोर से धड़क रहा था। फिर भी मैं खड़ी रही। आचार्यवर ने नियुक्तिपत्र मेरे हाथों में थमा दिया। उपहारस्वरूप और भी कुछ दिया। मेरा मन वहां नहीं अटका। मैं एक ही बात सोच रही थी कि यह सब कैसे हो गया?

मानसिक द्वंद्व

साध्वीप्रमुखा की नियुक्ति के सन्दर्भ में आचार्यश्री का निर्णय सर्वथा कल्पनातीत था। उनके इस निर्णय से बहुत लोग चमत्कृत थे। कुछ व्यक्तियों के मन में संशय की धुंधली रेखाएं थीं, बावजूद उनके इस चमत्कार ने संघ को खुशियों से सराबोर कर दिया। पर सबसे बड़ी परेशानी मेरे सामने थी। दीर्घकाल तक चले उस कार्यक्रम में अनेक बार मन में आया कि इस दायित्व को अस्वीकार कर दूं। मेरे भीतर अंतर्द्वन्द्व-सा छिड़ गया। एक मन कहता कि खड़ी होकर नियुक्ति पत्र लौटा दूं। दूसरा मन कहता–'ऐसी मूर्खता भूलकर भी मत कर लेना।' पहला मन झकझोरता–'इस चक्रव्यूह में एक बार फंस गई तो पुनः निकलना कठिन हो जाएगा।' दूसरा मन कहता–'इसे चक्रव्यूह मानना ही भूल है। यदि वह वास्तव में चक्रव्यूह है तो भी फंसानेवाले गुरु हैं। गुरु के काम में हस्तक्षेप का तुम्हें क्या अधिकार है?' मन की एक तरंग बोल उठी–'जानबूझकर कांटों का ताज क्यों पहन रही हो? अभी तो कुछ नहीं हुआ है। इसे पहनने के बाद उतारना भारी हो जाएगा।'

दूसरी तरंग ने अपनी दलील प्रस्तुत करते हुए कहा–'तुम समर्पण का मजाक क्यों कर रही हो? द्रोणाचार्य ने एकलव्य से दक्षिणा में अंगूठा मांगा। वह जानता था कि धनुर्विद्या में अंगूठे का कितना मूल्य है। किंतु उसने अंगूठा काटने में एक पल की भी देरी नहीं की। गुरु के प्रति तुम्हारा सच्चा समर्पण है तो उसका मूल्य चुकाओ।'

कई घंटों की कशमकश के बाद भी मैं एक निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाई। मेरी स्थिति सांप-छछूंदर जैसी हो गई। मैं न तो गुरु के निर्णय को मन से स्वीकार कर पाई और न उसे अस्वीकार करने का साहस जुटा पाई। उस अस्थिर मनोदशा में मेरा शरीर पूरी तरह से स्थिर था। लगभग तीन घंटों तक मैं वज्रासन में बैठी रही। आंख उठाकर इधर-उधर देखना तो दूर रहा, मैं हिल भी नहीं पाई। उस सभा में ऐसे लोग भी बहुत थे, जिनकी नजरें मुझ पर थीं। वे मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए उत्सुक थे। किंतु वहां मेरी उपस्थिति एक बुत से अधिक नहीं थी।

गुरु का विराट रूप

कार्यक्रम संपन्न हुआ। मैं आदतवश पानी लाने हेतु जाने के लिए उद्यत हुई। मुझे रोक दिया गया। भीड़ काफी छंट गई थी, फिर भी कुछ लोग आचार्यश्री को घेरे हुए थे। वे चहलकदमी कर रहे थे। मैंने निवेदन किया–'गुरुदेव! मैं कुछ जानती भी नहीं हूं, काम कैसे करूंगी? आप किसी अनुभवी साध्वी से काम कराएं।' मन के किसी कोने में भय सिर उठा रहा था कि इस बात से गुरुदेव अप्रसन्न हो गए तो क्या होगा? पर गुरुदेव तो सम्मोहन की कला में पारंगत थे। वे उस समय अप्रसन्न होकर शीशे-से नाजुक मन को तोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने वात्सल्य उंडेलते हुए कहा–'कामकाज की चिंता छोड़ो। मैंने तुम्हारा नाम रखा है, काम तो मैं स्वयं कर रहा हूं।' आश्वस्ति के इन दो बोलों ने टूटते हुए मन को थाम लिया।

नया वेश, नया परिवेश, नया दायित्व और नया

अनुभव। मैं भीतर और बाहर दोनों ओर से अव्यवस्थित हो गई। नींद, भूख और उत्सर्ग की अव्यवस्था ने शरीरतंत्र को हिला दिया। मन पहले से ही डांवांडोल था। महोत्सव का समय निकट था। यात्रियों का प्रवाह आ रहा था। दिन-रात साध्वियों का घेराव। अपने आपको संभालूं या आनेवालों को। उन दिनों आचार्यश्री ने जिस सहजता से मुझे संभाला, मैं उसकी कल्पना भी नहीं कर सकती थी। जब भी मेरा मन व्यथित होता, मैं उनके पास पहुंच जाती और मुक्ति के लिए अनुरोध करती। एक ओर कार्यों की गंभीरता, दूसरी ओर अधीरता। किंतु उनका धैर्य कभी डोला नहीं। वे मुझे समझाते, आश्वस्त करते और सर्वथा निश्चिंत होकर रहने का निर्देश देते। उनके देखने और कहने का तरीका इतना अद्भुत था कि मैं एक बार तो सब कुछ भूल जाती और मन ही मन संकल्प करती कि अब इस अध्याय को संपन्न कर दूंगी।

गंगाशहर से श्रीडूंगरगढ़ होते हुए आचार्यश्री मोमासर पहुंचे। तब तक मेरी अस्थिरता का दौर चलता रहा। मोमासर में एक दिन मैं कुछ अधिक व्यथित हो गई। मेरी उस व्यथा ने आचार्यश्री के मन को हिला दिया। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा कि एक कोमल कली को इस प्रकार कुचलना ठीक नहीं है। उस दिन उनकी आकृति पर विषाद की एक रेखा थी। मेरी आंखों ने उसको पकड़ लिया। मन इतना आहत हुआ कि उसे अभिव्यक्ति देनेवाले शब्द नहीं हैं। उस दिन भी शब्द होंठों तक आकर रुक गए। मैं भारी मन से आवास-स्थल पर गई। मैंने अपनी डायरी में लिखा—'गुरुदेव जैसे चाहें, मेरा उपयोग करें। मैं उन्हें अपनी मुक्ति के लिए इस रूप में कभी बाध्य नहीं करूंगी।'

उस दिन मध्याह्न में मैं अपनी डायरी लेकर आचार्यश्री के पास गई। कुछ बोलकर निवेदन करने की तो संभावना ही क्षीण हो गई थी। मैंने डायरी उनके सामने रख दी। अनमने भावों से डायरी उठाकर उन्होंने पढ़ी। एक क्षण में चेहरे की आभा बदल गई। उसी समय उन्होंने अपनी डायरी खोलकर मुझे पढ़ाई। मैं अभिभूत हो गई। दोनों ओर से भाव-परिवर्तन की उस घटना ने एक नई घटना के जन्म को रोक दिया। आचार्यश्री की करुणा, वत्सलता, उदारता और अपनेपन की भावना से प्रवाहित धाराओं ने मुझे इतना भिगो दिया कि आंखें खुल गईं। मेरे सामने गुरु का माहात्म्य प्रकट हो गया। मेरे मन का सारा ताप-संताप भाप बनकर उड़ गया।

शिष्य के समर्पण का दुरुपयोग करनेवाले गुरुओं की संसार में कमी नहीं है। ऐसे गुरुओं का मिलना दुर्लभ है, जो शिष्यों का संताप दूर करते हैं, उनके जीवन के हर मोड़ पर दीया जलाते हैं और सर्वव्यापी मंगल से दिशाओं को भर देते हैं। मेरे गुरुदेव अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी इस कोटि के गुरुओं से भी बहुत विलक्षण थे। उन्होंने अपने शिष्यों के जीवन को ही उजालों से नहीं भरा, पूरी मानवता का पथ उजालने के लिए कभी नहीं मिटनेवाली रोशनी बिछा दी। मुझ पर तो उनका अनंत उपकार रहा है। एक बिंदु को सिंधु से जोड़नेवाले, एक किरण को उजाले का इतिहास लिखने की प्रेरणा देनेवाले और एक अनगढ़ पाषाणखंड को तराशकर उसमें एक आकृति उकेरनेवाले वे महान् चेतनाशिल्पी आज भी इस सृष्टि के कण-कण में परिस्पंदित हो रहे हैं। ❑

अंतरंग क्षण : गुरु और शिष्य के

सूफी फकीर बायजीद अपने गुरु के पास गया। गुरु ने उसके सामने देखा तक नहीं। बायजीद आश्रम में रहा। एक साल बीता। वह गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ। गुरु ने एक नजर उस पर डाली। बायजीद को नया प्रकाश मिला। एक साल बाद वह फिर निकट आया। गुरु ने पूछा—'कैसे आए?' बायजीद बोला—'मैं क्यों आया हूं, आप जानते हैं। मेरे उत्तर का कोई विशेष अर्थ नहीं होगा।' एक वर्ष और बीत गया। बायजीद आया। गुरु ने पूछा—'कुछ करना है?' बायजीद बोला—'मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं। जब आप कहेंगे, करना शुरू कर दूंगा।' गुरु मौन रहे। बायजीद चला गया। वह एक वर्ष बाद फिर आया। गुरु ने उसके कंधों पर हाथ रखा। आंखों में गहरे तक झांका और कहा—'जाओ बायजीद! सब हो गया।'

प्रश्न होता है बायजीद क्यों आया? उसने क्या किया और उसके जीवन में क्या घटित हुआ? वह गुरु के पास आया, ठहरा, तनावमुक्त बना, समर्पित हुआ, समाहित हुआ और उसका आना सार्थक हो गया। चार साल बाद ही सही, जब गुरु ने उसकी आंखों में झांका तो उसकी अंतर्दृष्टि खुल गई। कहां मिलते हैं ऐसे गुरु जो शिष्य की अंतर्दृष्टि को जगा दें, उसे कृतार्थ कर दें और अपना सब कुछ उसमें उंडेल दें।

अप्रत्याशित रूपान्तरण

आचार्य तुलसी को ग्यारह वर्ष की कच्ची वय में गुरु मिले। बालसुलभ झिझक के कारण वे दूर-दूर से गुरु को देखते। तब तक गुरु की अमृत दृष्टि सीधी उन पर नहीं टिकी थी। फिर भी उनकी आंखों में कोई जादू था। आचार्यश्री उससे खिंचे हुए-से आते। एक दिन वे गुरु के निकट पहुंच गए। प्रथम दर्शन में ही गुरु ने उनकी आंखों के भीतर तक झांक लिया। उन्हें चार वर्ष की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। गुरु उनके मन में बसे, इसमें कोई नई बात नहीं थी। गुरु ने उनको अपने मन में बिठा लिया, यह नई बात थी। गुरु और शिष्य के प्रथम साक्षात्कार ने ही बीच के सारे आवरण उतार दिए। शिष्य के जीवन में अप्रत्याशित रूपांतरण घटा और वे पूरी तरह से गुरु के हो गए। उनके गुरु थे तेरापंथ धर्मसंघ के आठवें आचार्यश्री कालूगणी।

वय छोटी : बात बड़ी

कालूगणी उन दिनों लाडनूं में प्रवास कर रहे थे। बालक तुलसी ने उनको देखा। उनका उज्ज्वल आभामंडल बालक के आकर्षण का प्रमुख केंद्र था। वह उनके बारे में अधिक कुछ जानता भी नहीं था। उसने एक दिन अपनी मां से पूछा—'मां! हमारे गुरु नंगे

पांव पैदल क्यों चलते हैं? क्या इन्हें कष्ट नहीं होता है?' मां ने पुत्र को समझाते हुए कहा–'हमारे गुरु बहुत भाग्यशाली हैं। इनके पग-पग पर निधान है। इन्हें कष्ट क्यों होगा?'

बालक की जिज्ञासाओं के पंख खुलने लगे। उसने दूसरा प्रश्न पूछा–'मां! गुरुदेव का चेहरा इतना चमकता क्यों है?' माता बोली–'पुत्र! तुझे क्या पता, इन्होंने कितने पुण्यों का संचय किया है? चेहरे की चमक उनके संचित पुण्य का सुफल है।' बालक तुलसी अब मां के सामने खुल गया। उसने तीसरा प्रश्न पूछा–'मां! एक बात बता, इनके पीछे पूजी महाराज कौन होंगे? गुरुदेव के बाद इनका भार कौन संभालेगा?' पुत्र की इस बचकानी बात से माता की आंखों में लालिमा उतर आई। वह तुलसी को डांटते हुए बोली–'खबरदार! जो ऐसी बात फिर मुख से निकाली। हम तो यह मंगल कामना करते हैं कि हमारे पूज्य गुरुदेव दीर्घजीवी हों, लंबे समय तक धर्मसंघ की सार-संभाल करते रहें और हमें धार्मिक पथदर्शन देते रहें।'

मां की अप्रत्याशित डांट से एक बार तो बालक सहम गया, पर उसकी समझ इतनी गहरी थी कि उसने तत्काल विषय को दूसरा मोड़ देते हुए कहा–'मां! मुझे गुरुदेव बड़े अच्छे लगते हैं। मैं बार-बार इन्हें देखता हूं तो भी मन तृप्त नहीं होता। मेरी इच्छा होती है कि मैं इनका शिष्य बनूं और इनके चरणों में बैठकर अध्ययन करता रहूं।' दो क्षण पहले मां की आंखों में लालिमा थी, अब उसके स्थान पर प्रेम का सागर लहरा उठा। बालक का सिर सहलाते हुए मां बोली–'बेटा! तू भाग्यशाली है, हलुकर्मी है, जो तेरे मन में ऐसी भावना जगी है। गुरुदेव जिस पर एक बार भी अपनी कृपादृष्टि टिका देते हैं, वह व्यक्ति धन्य हो जाता है। पुत्र! हमारी तकदीर ऐसी कहां है, जो तू इनके चरणों में रह सके।'

माता-पुत्र का यह मधुर संवाद इतिहास का दुर्लभ प्रसंग ही नहीं है एक रहस्य का उद्घाटन भी है। आचार्य कालूगणी के बाद उनका दायित्व कौन संभालेगा? यह प्रश्न बालक तुलसी के मन में तब उठा, जब वह उनको अच्छी तरह जानता भी नहीं था। क्या इतना छोटा बच्चा इतनी बड़ी बात सोच सकता है? यह सब क्यों हुआ? कैसे हुआ? इस प्रसंग का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि कालूगणी को ऐसे शिष्य की खोज थी, जो उनको निश्चिंत कर सके। तेरापंथ के आचार्य के जीवन का एक अहम काम होता है उत्तराधिकारी का निर्णय। जब तक यह काम नहीं हो जाता, आचार्य निश्चिंत नहीं हो सकते। कालूगणी के नेतृत्व में उस समय अनेक शिष्य थे। उनमें विद्वान थे, तपस्वी थे, वक्ता थे, सेवाभावी थे और भी बहुत कुछ थे, पर उनकी आंखें किसी ऐसे व्यक्तित्व की खोज में थी, जिसमें शासनसूत्र संभालने की विशिष्ट क्षमता हो।

शुभ शकुन : विशिष्ट उपलब्धि

कालूगणी जिस दिन लाडनूं पधारे थे, उन्हें बहुत शुभ शकुन हुआ था। शकुन के आधार पर उन्होंने कल्पना की थी कि लाडनूं-प्रवास में कोई विशिष्ट उपलब्धि होनेवाली है, पर वह उपलब्धि कब और किस रूप में होगी, कुछ भी स्पष्ट नहीं था। लेकिन जिस दिन कालूगणी ने बालक तुलसी को देखा, उसकी आंखों में झांका, उन्हें अपनी खोज पूर्णता के बिंदु पर पहुंचती हुई-सी प्रतीत हुई। उन्होंने मन-ही-मन चाहा कि वह बालक उन्हें मिल जाए और वे उसके भीतर छिपे हुए विलक्षण व्यक्तित्व को उजागर कर दें। कालूगणी की यह कल्पना बालक तुलसी में संप्रेषित हुई हो और उसके मन में संघ की भावी व्यवस्था को लेकर कोई लहर आई हो, इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

बायजीद के गुरु को एक मात्र साधक शिष्य की प्रतीक्षा थी। उन्होंने बायजीद में साधना की ललक पैदा की, रास्ता दिखाया और मंजिल तक पहुंचा दिया। बायजीद को इससे अधिक कुछ पाना नहीं था और उसके गुरु को उससे अधिक कुछ देना नहीं था, पर कालूगणी को साधक के साथ प्रशासक शिष्य की जरूरत थी। उन्हें शिष्य मिला। उनको अपने शिष्य

की आंखों में दिव्यता का दर्शन हुआ। उन्होंने शिष्य में छिपी हुई क्षमताओं को पहचाना, उन्हें जगाया और शिष्य को उनका अनुभव करा दिया। ऐसे गुरु का मिलना बहुत मुश्किल होता है, पर किशोर तुलसी को वे अनायास ही मिल गए। गुरु की खोज पूरी हो गई। अब आरंभ हुई शिष्य के नए जीवन की यात्रा। इस यात्रा के वे क्षण, जिनको गुरु-शिष्य ने एक साथ जीया बहुत रोमांचक है, आह्लादक है। उन क्षणों को न शब्दों में बांधा जा सकता है और न ही कैमरे में उतारा जा सकता है, पर जिन्होंने उन क्षणों को भोगा, उनके अनुभवों को बांटा अवश्य जा सकता है।

पूज्य कालूगणी अपने धर्मसंघ के कुशल प्रशासक थे। प्रशासन के क्षेत्र में मुख्य रूप से दो बातें होती हैं—सारणा और वारणा। सारणा का संबंध है प्रेरणा और प्रोत्साहन से जबकि वारणा में उपालंभ, दण्ड आदि के द्वारा व्यक्ति की दिशा बदली जाती है। कालूगणी मुनि तुलसी को सारणा और वारणा की कला सिखाना चाहते थे। उपदेश की अपेक्षा प्रायोगिक प्रशिक्षण में उनका विश्वास अधिक था। अपने पूरे धर्मसंघ पर वे सारणा और वारणा के प्रयोग करते थे। ऐसे कुछ प्रयोग मुनि तुलसी पर भी हुए। उद्देश्य एक ही था—मुनि तुलसी में प्रशासक की क्षमता का विकास। मुनि तुलसी के जीवन के वे क्षण, जिनका संबंध कालूगणी द्वारा की गई सारणा और वारणा के साथ है, बहुत विलक्षण क्षण हैं। उनमें से कुछ क्षणों को यहां रूपायित करने का प्रयास किया जा रहा है।

इस पर मेरा हाथ है

गंगाशहर की बात है। रात का समय था। कालूगणी कमरे में चहलकदमी कर रहे थे। मुनि चौथमलजी और मुनि शिवराजजी कालूगणी के शयन हेतु 'जोड़ी' बिछा रहे थे। कालूगणी घूमते-घूमते रुके और मुनि तुलसी के कंधे पर हाथ रखकर खड़े हो गए। अंधेरा होने के कारण किसी को कुछ भी साफ-साफ दिखाई नहीं दे रहा था। मुनि शिवराजजी किसी काम से उठे। वे अचानक मुनि तुलसी से छू गए। उन्होंने सहज भाव से कह दिया—'बीच में क्यों खड़े हो?' मुनि तुलसी 'तहत' कहकर मौन हो गए। कालूगणी उसी समय बोल उठे—'शिवराजजी! कैसे बोल रहे हो? तुम्हें पता नहीं, इस पर मेरा हाथ है।' मुनि तुलसी के कंधे पर गुरुदेव का हाथ था ही, पर इस प्रसंग में आन्तरिक कृपा का जो हाथ था, वह मुनि तुलसी के मन में ही नहीं, वहां खड़े अन्य साधुओं के मन में भी मीठी-सी गुदगुदी भर गया।

कांटा निकालना भी नहीं जानते

एक बार मुनि तुलसी के पांव में कांटा लग गया। उस समय मुनि चौथमलजी कांटा निकालने में निष्णात माने जाते थे। उन्होंने कांटा निकालने की कोशिश की, पर वह नीचे चला गया। कालूगणी को इस बात की जानकारी मिली। वे स्वयं वहां पधारे। नीचे कंबल बिछाकर विराजे और अपने घुटने पर मुनि तुलसी का पांव टिकाकर कांटा देखा। वह काफी गहरा चला गया था। कालूगणी बोले—'कांटा बिगाड़ दिया, अब यह ऐसे नहीं निकलेगा। इसके गुड़ बांध दो।' मुनि चौथमलजी पास ही खड़े थे। गुरुदेव ने उनसे कहा—'कांटा निकालना भी नहीं जानते। इसके कितना दर्द हो गया।' मुनि चौथमलजी ने गुरुदेव के वहां से पधार जाने पर विनोद की भाषा में कहा—'देखो, तुलसी मुनि! तुम्हारे कांटा लगा तब हमें अज्ञानी बनना पड़ा।'

तू चिन्ता क्यों करता है?

एक बार मुनि तुलसी को एग्जिमा हो गया। उनके पूरे शरीर पर चकत्ते हो गए। किसी ने कह दिया—'बीमारी लाइलाज है।' मुनि तुलसी इस बात से चिन्तित रहने लगे। पूज्य कालूगणी ने देखा कि तुलसी उदास रहता है। उन्होंने स्थिति की जानकारी की और उनको अपने पास बुला कृपा बरसाते हुए कहा—'तुलसी! तू चिंता क्यों करता है? किसने कह दिया बीमारी लाइलाज है। तू निश्चिंत रह। ये तो दाद हैं। बिलकुल ठीक हो जाएंगे।' गुरुदेव के शब्दों ने मुनि तुलसी के मन को पूरी तरह आश्वस्त कर दिया।

कालूगणी उन दिनों लाडनूं में प्रवास कर रहे थे। उनको वहां से विहार करना था। मुनि तुलसी को उपचार के लिए लाडनूं रहना पड़ा। वहां डॉक्टर विभूतिभूषण की चिकित्सा चली। वह अनुकूल रही। धीरे-धीरे शरीर पर उभरे हुए सारे चकत्ते ठीक हो गए। कहीं उनका निशान भी शेष नहीं रहा।

साध्वियों की शिक्षा

कालूगणी के शासनकाल में साधु-साध्वियों की संख्या में अच्छा विस्तार हुआ। संघवृद्धि का अभियान तीव्रता पर था। कभी तेरह, कभी पंद्रह और कभी बाईस दीक्षा। दीक्षा लेनेवालों में अधिक संख्या बहनों की होती। मुनि तुलसी के मन पर एक प्रतिक्रिया हुई–साध्वियों की संख्या बढ़ रही है और इनकी शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। आगे जाकर क्या होगा? जिस समय यह बात उनके मन में आई, उन पर कोई दायित्व नहीं था। फिर भी वे कालूगणी के पास गए और उन्होंने सहमते-सहमते अपना मन खोल दिया। कालूगणी कुछ बोले नहीं, पर मुनि तुलसी के निवेदन को संघ की अपरिहार्य अपेक्षा समझकर उन्होंने उसके बारे में सोचना शुरू कर दिया।

गंगापुर में कालूगणी ने मुनि तुलसी को अपना उत्तराधिकार सौंप दिया। धर्मसंघ की सार-संभाल और विकास हेतु उन्होंने युवाचार्य तुलसी को जो सूत्र दिए, उनमें एक सूत्र था–'साध्वियों की शिक्षा पर ध्यान देना।' यह छोटा-सा सूत्र इस बात का संकेत देता है कि गुरु-शिष्य के अंतरंग क्षणों में धर्मसंघ के विकास से संबंधित न जाने कितनी चर्चा चली होगी। वे क्षण उनके अपने थे। कभी-कभी किसी प्रसंग में उन क्षणों का थोड़ा-सा आभास मिल पाता है। पूरी बातें तो तभी प्रकट होंगी, जब आचार्यश्री स्वयं कभी अपनी आत्मकथा लिखेंगे।

रामचरित सीख लो

वि.सं. 1991 में कालूगणी का चातुर्मास जोधपुर था। जोधपुर से विहार हुआ। कालूगणी ने मुनि तुलसी से कहा–'तुम 'रामचरित' सीख लो।' मुनि तुलसी ने निवेदन किया–'अभी रामचरित क्या करूंगा?' कालूगणी बोले–'अभी यात्रा में कुछ समय मिल जाएगा, सीख लो, काम आएगा।' मुनि तुलसी ने गुरुदेव का निर्देश स्वीकार किया और प्रतिदिन एक-एक गीत सीखना शुरू कर दिया। उस समय कौन जानता था कि दो वर्ष की अवधि में ही मुनि तुलसी को आचार्य पद का दायित्व संभालना होगा और रामचरित का वाचन करना होगा।

कालूगणी को इस प्रसंग में अपने अनुभव से प्रेरणा मिली। उनके पूर्ववर्ती आचार्य डालगणी ने उनको न कभी कुछ सीखने के लिए कहा और न कोई संकेत ही दिया। अचानक उन पर आचार्य पद का दायित्व आ गया। उन दिनों चातुर्मास में 'रामचरित' का वाचन अनिवार्य-सा था। प्रशासन का गुरुतर दायित्व और उसके साथ रामचरित कंठस्थ करना, कालूगणी को काफी कठिनाई का अनुभव हुआ। संभव है, इसी अनुभव ने कालूगणी को प्रेरित किया और उन्होंने उचित समय पर मुनि तुलसी को करणीय कार्यों के प्रति सजग कर दिया।

यह ठीक गाता है

पूज्य कालूगणी समय-समय पर संतों की परीक्षा लिया करते थे। उनका परीक्षा लेने का तरीका इतना विलक्षण था कि बड़े-बड़े संत हक्के-बक्के रह जाते। परीक्षा के क्रम में वे कभी सैद्धान्तिक बोल पूछते, कभी संस्कृत श्लोक का अर्थ पूछते, तो कभी कोई रागिनी ही पूछ लेते। ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जो रोचक होने के साथ-साथ ज्ञानवर्धक भी हैं। यहां केवल एक प्रसंग उल्लिखित किया जा रहा है।

एक दिन कालूगणी ने एक-एक कर कई संतों को बुलाया और निर्देश दिया–'असवारी की राग सुनाओ।' इस राग की पूरी पंक्ति है–'राणाजी! थांरी देखण द्यो असवारी'। मुनि कुन्दनमलजी, मुनि चौथमलजी, मुनि सोहनलालजी (चूरू) आदि कई संत अच्छे गायक थे और इस रागिनी से भी परिचित थे। उन्होंने राग

सुनाई। कालूगणी ने उनको उत्तीर्ण नहीं किया। अन्य कई मुनियों ने गाने का प्रयास किया, पर सफलता नहीं मिली।

आखिर कालूगणी ने मुनि तुलसी से कहा–'तुम गाओ।' मुनि तुलसी को कुछ दिन पूर्व स्वयं कालूगणी ने वह रागिनी सिखाई थी। ग्रहणशीलता के कारण उन्होंने राग के स्वरों को यथावत पकड़ लिया। मुनि तुलसी ने उस राग में एक पद्य सुनाया। कालूगणी ने संतों को संगीत के बारे में दिशानिर्देश देते हुए कहा–'यह ठीक गाता है, इस प्रकार गाना चाहिए।'

कालूगणी यह सब सहज भाव से करते थे या बड़े-बड़े संतों के मन पर मुनि तुलसी का प्रभाव स्थापित करने के लिए करते थे, यह बात तो वे ही बता सकते थे, पर इतना कहा जा सकता है कि इस क्रम से पूरे साधुसंघ पर मुनि तुलसी के कर्तृत्व और प्रतिभा की छाप पड़ गई। कालूगणी के आसपास रहनेवाले संत यह भी समझने लगे थे कि मुनि तुलसी पर गुरुदेव की कितनी कृपा है।

योगक्षेम का उदाहरण

सुजानगढ़ का प्रसंग है। मुनि तुलसी कालूगणी के साथ पंचमी समिति गए। उस समय वहां बालू रेत के टीले बहुत थे। बचपन में ऊंचे टीलों पर चढ़ने-उतरने की रुचि सहज रहती है। कालूगणी रास्ते में चल रहे थे। मुनि तुलसी टीले से सीधे नीचे उतरने लगे। इससे वहां की रेत फिसलती हुई नीचे गिरने लगी। कालूगणी ने मुनि तुलसी को सचेत करते हुए कहा–'कैसे उतर रहे हो? नीचे हरियाली होगी तो?' मुनि तुलसी ने इधर-उधर देखा और कह दिया–'यहां हरियाली नहीं है।'

कालूगणी रास्ते से नीचे पधारे। वहां टीले के नीचे हरियाली थी। कालूगणी ने उसकी ओर संकेत करते हुए कहा–'तुलसी! तुमने कहा था कि हरियाली नहीं है। देख, तेरे पांवों से कुचली रेत कहां गिरी'? मुनि तुलसी की आंखें नीचे झुक गई। कालूगणी ने उनको प्रायश्चित्त स्वरूप पांच कल्याणक का दंड दिया। मुनि तुलसी ने दंड स्वीकार कर बहुत विनम्रता से भविष्य में सजग रहने की भावना व्यक्त की। उनके विनय से खुश होकर कालूगणी ने दंड माफ कर दिया। योगक्षेम का यह दायित्व गुरु ही निभा सकते हैं। यह घटना मुनि तुलसी की दीक्षा के आठ-दस दिन बाद की ही है।

आग्रह किस काम का

आचार्यश्री कालूगणी उन दिनों श्रीडूंगरगढ़ प्रवास कर रहे थे। रात का समय था। मुनि मगनलालजी आदि कुछ संत कालूगणी के पास बैठे थे। मुनि तुलसी भी उनके पास थे। रात्रि के अंधकार में वहां से थोड़ी दूरी पर प्रकाश दिखाई दे रहा था। प्रकाश लालटेन का है, बिजली का है या दीये का है? इस संबंध में चर्चा चल पड़ी। कालूगणी ने संतों की बात सुनी और अपनी जानकारी के आधार पर कहा–'यह प्रकाश बिजली का नहीं, गली की नुक्कड़ पर लगी लालटेन का है।' यह बात सुन संतों ने एक बार 'तहत' कह दिया। किंतु कुछ ही देर बाद वे कहने लगे–'प्रकाश बिजली का होना चाहिए।' कालूगणी को यह निरर्थक आग्रह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने पुनः कहा–'यह प्रकाश लालटेन का है।' मुनि मगनलालजी ने गुरुदेव का कथन स्वीकार कर मौन धारण कर लिया, पर शेष जो विद्यार्थी संत थे, वे उसमें उलझ गए। उनमें से एक मुनि बाहर बरामदे में गया और प्रकाश के बारे में पूरी जानकारी पाकर लौटा। उसके आते ही अन्य मुनि उत्सुकता से पूछने लगे–'प्रकाश किसका है?' मुनि धीरे से बोला–'प्रकाश लालटेन का ही है।'

कालूगणी इस पूरी घटना के साक्षी थे। उन्होंने वहां उपस्थित सब संतों को उपालंभ देते हुए कहा–'मैंने दो बार बता दिया कि प्रकाश लालटेन का है, फिर भी तुम्हारा आग्रह नहीं टूटा। आखिर वहां जाकर देखने से ही संतोष हुआ। मगनलालजी स्वामी! आप भी छोटे संतों के साथ हो गए। मेरे द्वारा स्पष्ट कहने के बाद भी आपने इनको बाहर जाकर देखने से रोका क्यों नहीं।'

मुनि मगनलालजी ने अपनी भूल का अनुभव किया। शेष संतों ने भी अपनी गलती स्वीकार की। सबसे अधिक संवेदन हुआ मुनि तुलसी को। वे जानते थे कि उनकी छोटी-सी भूल को सुधारने के लिए कालूगणी कितने जागरूक रहते हैं। उस दिन उनको यह बोधपाठ मिल गया कि गुरु के वचनों को श्रद्धा से स्वीकार कर लिया जाए तो आग्रह को पनपने का अवसर ही नहीं मिलता।

तूने यह असावधानी क्यों की

सं. 1992 में आचार्यश्री कालूगणी का चातुर्मास उदयपुर था। वहां दशहरे के दिन राणाजी की सवारी बड़ी धूमधाम से निकलती थी। कुछ मुनि सवारी देखने के लिए उत्सुक थे। अपराह्न में वे पंचमी समिति गए और सवारी देखने के लिए रुक गए। मुनि तुलसी भी उनके साथ थे। सवारी में झांकियों की शृंखला इतनी लम्बी थी कि उन्हें देखते-देखते सूर्यास्त हो गया। मुनि आवास-स्थान पर पहुंचे, तब तक वंदना हो चुकी थी। कालूगणी प्रतिक्रमण कर रहे थे। सवारी देखनेवाले मुनि भी प्रतिक्रमण करने लगे। प्रतिक्रमण पूरा कर वे गुरुदेव को वन्दना करने गए। बिना आज्ञा लिए सवारी देखने जाना और विलंब से पहुंचना–दो बड़ी गलतियां प्रत्यक्ष थीं। कालूगणी ने उन सबको उपालंभ के साथ तेरह कल्याणक का दंड दिया। संतों को अपने प्रमाद का बोध हुआ। उन्हें भविष्य में सजग रहने की प्रेरणा मिली।

धीरे-धीरे सब संत वहां से चले गए। प्रतिक्रमण के बाद का समय मुनि तुलसी के लिए आरक्षित जैसा था। उस समय कालूगणी उनको कुछ-न-कुछ नई बात सिखाते थे। उस दिन भी मुनि तुलसी वहां बैठे रहे। कालूगणी ने उनको विशेष रूप से शिक्षा देते हुए कहा–'तुलसी! तू संतों के साथ क्यों रहा? तूने यह असावधानी क्यों की?' एक ओर कालूगणी का इतना स्नेह एवं वात्सल्य, दूसरी ओर उपालंभ। कालूगणी यही तो उनको सिखाना चाहते थे। अनुशासन और व्यवस्था के प्रश्न पर अपने अंतरंग, निकट या प्रिय व्यक्ति को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता।

सारणा-वारणा संबंधी ये थोड़े-से प्रसंग इस बात की साक्षी बन सकते हैं कि पूज्य कालूगणी ने मुनि तुलसी में सारणा-वारणा का कौशल कैसे भरा? कौशल भरनेवाले और जिसमें वह भरा जाता है, दोनों में गहरा तादात्म्य जुड़ने पर ही यह सब संभव हो सकता है।

कल्पवृक्ष की छाया में

गुरु के व्यक्तित्व में कोई ऐसी विलक्षणता होती है कि उनके अंतरंग क्षणों का साक्षी बननेवाला शिष्य विलक्षण बन जाता है। शिष्य जब गुरु के चरणों में झुकता है और गुरु उसके मस्तक पर अपना वरदहस्त रखते हैं तो शिष्य के भीतर एक सिहरन-सी होने लगती है। गुरु की नजरों में न जाने क्या होता है, जो शिष्य की पोर-पोर में नई स्फुरणा जगा जाता है। गुरु के आभामंडल से ऐसा आलोक झरता रहता है, जो शिष्य के अंतःकरण को जगमगा देता है। गुरु की अमृतमयी वाणी शिष्य को अमरता का वरदान दे जाती है। गुरु की मंगल सन्निधि में शिष्य के अनुभवों में नई मिठास घुल जाती है। गुरु को पाकर शिष्य को ऐसी प्रतीति होती है, मानो वह किसी कल्पवृक्ष की छाया में बैठा है। गुरु की कृपा पाने पर उसे यह अनुभव होता है, मानो उसके हाथ में कामकुंभ आ गया है और उसके दरवाजे पर कोई कामधेनु बांध गया है। वह पूर्णकाम शिष्य गुरु से प्राप्त अमृत को जन-जन में बांटने का संकल्प स्वीकार करके उनकी उपकृतियों से उऋण होने का प्रयास करता है। ❑

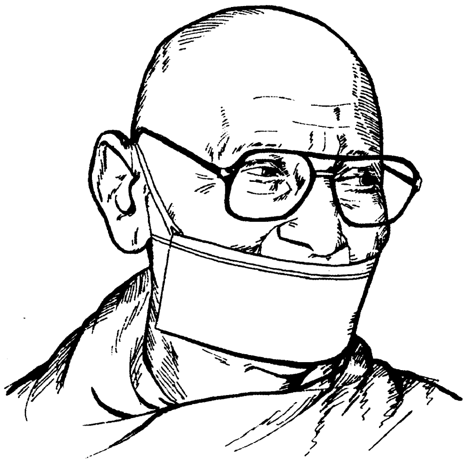

विलक्षण गुरु के विलक्षण शिष्य

भारतीय संस्कृति में संबंधों का अपना दर्शन है। पिता-पुत्र, भाई-बहिन, मां-बेटी, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य आदि संबंधों का होना या बनाना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है उस संबंध का अंत तक निर्वाह। स्वार्थ की कच्ची ईंटों पर जहां संबंधों का महल खड़ा होता है, वहां उसके स्थायित्व की निश्चिंतता नहीं होती। 'तुम आओ डग एक तो हम आएं डग अट्ठ'–विनिमय की इस मनोवृत्ति के धरातल पर संबंधों की दीवार ऊंची नहीं उठ सकती। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पारिवारिक विघटन का जो रूप सामने आया है, वह संबंधों के लिजलिजेपन को ही अभिव्यक्ति देनेवाला है।

गुरु-शिष्य का संबंध अन्य सब संबंधों से विलक्षण होता है। यह संबंध कैसे जुड़ता है? कैसे पुष्ट होता है? और कब शिखर तक पहुंच जाता है? कुछ पता ही नहीं चलता। यह बात सब गुरुओं और सब शिष्यों पर घटित नहीं होती। कोई-कोई गुरु ऐसे होते हैं, जो शिष्य में वात्सल्य रस उड़ेलकर उसे पूरी तरह से भर देते हैं। इसी प्रकार कोई-कोई शिष्य ऐसे होते हैं, जो जीवनभर गुरु से पाते रहते हैं और उसे बहुगुणित कर लिखा देते हैं।

अणुव्रत अनुशास्ता, गणाधिपति आचार्यश्री तुलसी और प्रेक्षाध्यान के पुरस्कर्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञ को जाननेवाले कह सकते हैं कि गुरु-शिष्य का ऐसा उदाहरण विरला ही होता है। जिस दिन किसी प्रेरणा से गुरु का साक्षात्कार हुआ, उसी दिन उनके साथ अद्वैत स्थापित हो गया। यद्यपि उस समय आचार्य तुलसी मुनि तुलसी के रूप में अपने गुरु पूज्य कालूगणी की छत्रछाया में विकास के रास्ते तय कर रहे थे। फिर भी दस वर्षीय बालक नथमल ने मन-ही-मन उनके प्रति अपना संपूर्ण समर्पण कर दिया। इस अज्ञात समर्पण का फलित यह हुआ कि कालूगणी के कर-कमलों से दीक्षित होते ही उन्होंने मुनि नथमल की परवरिश का दायित्व मुनि तुलसी को सौंप दिया। मुनि नथमल ने

अपनी चिंता के भार से सर्वथा मुक्त होकर मुनि तुलसी के निर्देशन में संयम-जीवन की यात्रा शुरू कर दी। इनके बारे में गुरुदेव प्रायः कहा करते हैं—'नथमलजी बचपन में जितने भोले थे, उतने ही सरल थे। भोला व्यक्ति सरल हो ही, यह नियामकता नहीं है। इनमें दोनों तत्त्वों का विलक्षण एकत्व था। पूज्य कालूगणी ने उनके अध्ययन, अध्यापन और प्रशिक्षण की जिम्मेदारी मुझे सौंपकर निश्चिंतता का अनुभव किया। मैंने इसको गुरुकृपा का प्रसाद माना।'

जिन पर गुरु की दृष्टि टिकी

पूज्य कालूगणी वि. सं. 1993 में मुनि तुलसी को अपना उत्तराधिकार सौंपकर स्वर्गस्थ हो गए। मुनि तुलसी ने आचार्यपद का दायित्व संभालकर संघीय विकास की दृष्टि से व्यक्ति-निर्माण के कार्य पर पूरा ध्यान दिया। आचार्य के सामने जितने महत्त्वपूर्ण काम होते हैं, उनमें एक काम है भावी व्यवस्था के बारे में सुचिंतित निर्णय। मानसिक स्तर पर ही सही, जब तक यह निर्णय नहीं हो जाता, वे निश्चिंत नहीं हो सकते। मुनि नथमलजी के बारे में उस समय गुरुदेव ने कोई चिंतन या निर्णय किया हो, यह तो वे ही बता सकते हैं। पर व्यवहार यह कहता है कि वह समय निर्णय के लिए उपयुक्त नहीं था, एक कवि ने लिखा है—

लोहा लाखां चम्मड़ां, पे'लां किसा बखाण।
बहू बछेरा डीकरा, नीवड़ियां निवाण।।

गुरुदेव ने भविष्य की व्यवस्था का लक्ष्य बनाकर संघ के सुयोग्य साधुओं पर अपनी दृष्टि टिकाई होगी। कौन साधु कितने प्रतिशत अंक प्राप्त कर सका, यह विश्लेषण दूसरा कोई नहीं कर सकता, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन पर आचार्यश्री की दृष्टि टिकती गई और उतरती गई। जिन पर दृष्टि टिकाकर उनका मन आश्वस्त हुआ, उनमें एक नाम मुनि नथमलजी का है। मुनि नथमलजी की दीक्षा का प्रथम दशक उनके शैक्षणिक विकास का दशक था। जब तक गुरुदेव ने संघीय दायित्व नहीं संभाला, उनकी हर गतिविधि पर आचार्यश्री का नियंत्रण रहा। वि.सं. 1993 के बाद परिस्थिति ने उनको स्व के प्रति जागरूक होने की दिशा में उत्प्रेरित किया। छह वर्षों तक गुरुदेव का निकट सान्निध्य और अंतरंग पोषण उन्हें मिला। उसमें थोड़ा-सा व्यवधान भी उनके लिए असह्य था। किंतु गुरुदेव ने समय-समय पर उन्हें आश्वस्त करके सहज बना दिया।

तुलसी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी

मुनि नथमलजी की सहजता, सरलता और भोलेपन ने उनको प्रपंचों से मुक्त रखा और वे अधिक-से-अधिक आत्मकेंद्रित होते गए। आत्मकेंद्रित व्यक्ति अंतर्मुखी बन जाता है। अंतर्मुखता विशिष्ट क्षयोपशम में निमित्त बनती है। घात्यकर्मों के क्षयोपशम से उनके भीतर छिपी शक्ति का प्रस्फोट हुआ। चारित्र की निर्मलता के साथ-साथ उन्होंने ज्ञान-दर्शन के क्षेत्र में अद्भुत विकास किया। अध्ययन की सहज रुचि, कालूगणी का वरदहस्त, विद्यागुरु मुनि तुलसी का मनोवैज्ञानिक अनुशासन और शिष्य का हार्दिक समर्पण। नियति ने इतना सुयोग बनाया कि अज्ञात ज्ञात होने लगा। विकास के बीज उपयुक्त सिंचन पाकर अंकुरित होने लगे। मुनि जीवन के दूसरे दशक में प्रवेश होते ही उनकी चिंतन-क्षमता और निर्णय-क्षमता में नया निखार आ गया। तब से आचार्य तुलसी ने संघीय कार्यों में उनका उपयोग करना शुरू कर दिया।

आचार्यश्री ने संघ की प्रतिभाओं को प्रोत्साहन दिया और विकास के लिए अनुकूल अवसर दिया। उनकी प्रेरणा से संस्कृत और हिन्दी भाषा में अच्छा विकास होने लगा। विकास करनेवाले साधु-साध्वियों की लंबी पंक्ति थी। उसमें प्रथम स्थान पर मुनि नथमलजी थे। वि. सं. 2011 में आचार्यश्री बंबई में प्रवास कर रहे थे। भारतीय विद्या भवन में एक विशेष कार्यक्रम था। उसमें हिंदुस्तान के जाने-माने संस्कृतज्ञ श्री आप्टे आदि शताधिक विद्वान उपस्थित थे। मुनि नथमलजी ने संस्कृत भाषा में धाराप्रवाह भाषण दिया। संस्कृत विद्वान भाषण सुनकर चकित हो गए। कार्यक्रम

संपन्न हुआ। आचार्यश्री हॉल से बाहर कुछ आगे पधार चुके थे। मुनि नथमलजी कुछ पीछे रह गए। उसी समय पांच-सात प्रोफेसर दौड़े-दौड़े मुनिश्री के पास आए और बोले–'मुनिजी! आपने किस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है?' मुनिश्री ने उत्तर दिया–'मैंने तुलसी विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है।' यह उत्तर सुनकर प्रोफेसर एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। उन्होंने इस विश्वविद्यालय का नाम तक नहीं सुना था। मस्तिष्क पर बहुत जोर डालने पर भी उन्हें कुछ याद नहीं आया। उन्होंने प्रश्न किया–'मुनिजी! यह विश्वविद्यालय कहां है? हिन्दुस्तान में है या बाहर? हमने तो इसका नाम ही नहीं सुना।'

मुनि नथमलजी ने आगे-आगे चल रहे आचार्यश्री तुलसी की ओर इंगित करते हुए कहा–'देखिए, हमारा विश्वविद्यालय वह आगे जा रहा है।' प्रोफेसर देखते ही रह गए। 'तुलसी विश्वविद्यालय' और उसके ऐसे विलक्षण विद्यार्थी विद्वज्जन में चर्चा के विषय बन गए।

कृपा और समर्पण का अद्भुत योग

आचार्यवर महाराष्ट्र की यात्रा पर थे। पूना, नारायणगांव आदि क्षेत्रों का स्पर्श करते हुए 'मंचर' नामक गांव में पधारे। वे जिस मकान में ठहरे, वहां अनेक पत्र-पत्रिकाएं रखी हुई थीं। उनमें एक मासिक पत्र 'धर्मदूत' था। उसे पढ़कर आचार्यवर ने सोचा–'जैन आगम साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। उस पर अभी तक विशेष काम नहीं हो पाया। जैन मुनियों की भी उसके प्रति अभिरुचि कम है। इसका कारण उसके आधुनिक ढंग से संपादन का अभाव है। काश! जैन आगमों का सही रूप में संपादन हो। विचार की इस कौंध से नई प्रेरणा जागी। उन्होंने मुनि नथमलजी को बुलाकर कहा–'देखो, बौद्ध लोग कितने सजग हैं। बौद्ध पिटकों के पुनः संपादन की योजना है। क्या जैन साहित्य के पुनरुद्धार की अपेक्षा नहीं है। जैन आगमों में ऐसी क्या कमी है, जिससे उनका संपादन नहीं हो रहा है? क्या यह काम हम उठा लें?'

मुनि नथमलजी ने आचार्यश्री की वाणी में छिपी हुई वेदना को पढ़ा। इससे उनको अज्ञात प्रेरणा मिली। वे बोले–'यह काम हमें करना चाहिए।' आचार्यश्री ने कहा–'काम करना होगा।' मुनिश्री बोले–'आपकी कृपा होगी तो निश्चित रूप से काम होगा।' आचार्यश्री ने फिर कहा–'एक बार फिर सोच लो। इस काम में किसी वेतनभोगी पण्डित का सहयोग नहीं मिलेगा।' मुनिश्री बोले–'गुरुदेव! इसमें सोचना क्या है? जो आपका संकल्प है, वह अवश्य पूरा होगा।' उसी दिन रात्रि में प्रार्थना के बाद आचार्यश्री ने साधुओं की सभा में इस विषय की चर्चा की और निर्णय हो गया कि जैन आगमों के संपादन का काम करना है। मुनिश्री ने अनुभव किया कि उन पर आचार्यश्री की विशेष कृपा है और आचार्यश्री ने अनुभव किया कि इतने समर्पित साधुओं के योगदान से कोई भी काम किया जा सकता है। कृपा और समर्पण के उस अद्भुत योग से ही आचार्यश्री के सक्षम सान्निध्य और मुनि नथमलजी के निर्देशन में जैन आगमों के अभूतपूर्व संपादन का कार्य शुरू हो गया।

अविस्मरणीय अवदान

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की स्थापना के बाद कुछ मौलिक और महत्त्वपूर्ण विचार दिए। उन विचारों को तेरापंथ के मौलिक सिद्धांतों के रूप में निरूपित किया जा सकता है। दान, दया आदि के विषय में विरोधी लोगों ने उनके विचारों को विकृत रूप में प्रस्तुत किया। इस कारण लोग तेरापंथ के नाम से ही घृणा करने लगे। लगभग दो सौ वर्ष पूर्ण होने जा रहे थे। फिर भी विरोध का वातावरण नहीं बदला। आचार्यवर ने इस स्थिति को गंभीरता से लिया। उन्होंने मुनि नथमलजी को बुलाकर कहा–'हम जहां कहीं जाते हैं, अच्छा काम करना चाहते हैं, पर हमारी मान्यताएं आड़े आ रही हैं। हमारे अच्छे विचारों को भी लोग पूर्वाग्रहों के संदर्भ में सुनते और पढ़ते हैं। मैं अब अपने प्रवचन की शैली बदलकर बोलूंगा। तुम उसे पकड़ो। श्रीचंदजी रामपुरिया भी ग्रहणशील हैं। उन्हें भी इस काम में जोड़ो। फिर स्वामीजी के विचारों को लेकर स्वतंत्र रूप में कुछ लिखो।'

मुनिश्री के जीवन की एक सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि बीज रूप में थोड़ा-सा संकेत पाकर उसे गहराई से पकड़ना और पूरे विस्तार के साथ उसे प्रस्तुति' देना। आचार्यश्री का निर्देश पाकर उन्होंने आचार्य भिक्षु को नए परिप्रेक्ष्य में लिखा। उनका लेखन इतना सशक्त था कि भयंकर विरोध करनेवालों को भी कहना पड़ा कि तेरापंथ के सिद्धांत चुटकियों से उड़नेवाले सिद्धांत नहीं हैं। स्थानकवासी संप्रदाय के एक प्रमुख संत ने उपाध्याय अमर मुनि से तेरापंथ के सिद्धांतों की विचित्रता का बयान किया तो अमर मुनि बोले–'तेरापंथ के सिद्धांत बहुत गहरे हैं।' उन्होंने इतना कहकर ही विराम नहीं लिया, अपनी पुस्तकों में तेरापंथ के विरोध में लिखे गए अंशों को अपने आप हटा दिया। यह सब अकारण ही नहीं हो गया। 'भिक्षु विचार दर्शन' जैसे गंभीर ग्रंथों को पढ़ने के बाद ही ऐसा परिवर्तन हुआ होगा। इस क्षेत्र में मुनिश्री का अवदान अविस्मरणीय रहा है।

अंतरंग संघर्ष के समय सहयोग

एक समय आया, जब तेरापंथ धर्मसंघ में अंतरंग संघर्ष की ऊष्मा बहुत प्रबल हो गई। संघर्ष के पुरोधा साधुओं को इस बात का गर्व था कि स्वामीजी के सिद्धांतों को वे जितनी गंभीरता से समझते हैं, नए युग के पढ़े-लिखे साधु नहीं समझ सकते। आचार्यवर उनकी गर्वोक्तियों से अपरिचित नहीं थे। उन्होंने मुनि नथमलजी को प्रेरणा दी कि वे स्वामीजी का पूरा साहित्य पढ़ें। मुनिश्री ने साहित्य पढ़ना शुरू किया और उसका तलस्पर्शी अध्ययन कर लिया। आमने-सामने चर्चा का प्रसंग उपस्थित हुआ तो मुनिश्री के यौक्तिक उत्तरों से बड़े-बड़े साधुओं को पसीना आ गया।

अंतरंग संघर्ष के विस्फोट का एक इतिहास गंगापुर के साथ जुड़ा हुआ है। वि.सं. 2012 की बात है। आचार्यवर उज्जैन का चातुर्मास संपन्नकर गंगापुर पधारे। संघ में शीतयुद्ध चल रहा था। भीतर-ही-भीतर तोड़फोड़ हो रही थी। आचार्यश्री उसे समाप्त करना चाहते थे। उसके लिए एक-एक साधु को समझाने का मार्ग पूर्णरूप से प्रशस्त था, किंतु स्थिति ऐसी बन गई कि समझाने और समझने की बात गौण हो गई। आचार्यवर का चिंतन था कि इस स्थिति को दीर्घकालीन बनाना संघ के हित में नहीं है। इसलिए एक धमाका कर देना चाहिए। इस चिंतन की क्रियान्विति के लिए एक 'लेखपत्र' तैयार किया गया। जो साधु उस लेखपत्र को मान्य करें, उस पर हस्ताक्षर करें, वे संघ में और जो हस्ताक्षर न करें, वे संघ से अपने आप बाहर हो जाएंगे। शीतयुद्ध समाप्त हो जाएगा।

उस लेखपत्र को सार्वजनिक करने से पहले पूरे संघ का विहंगावलोकन करना आवश्यक था। इस काम में आचार्यवर को सर्वाधिक सहयोग मुनि नथमलजी का मिला। उन्होंने आचार्यश्री के साथ लगभग पूरी रात जागरण कर एक सूची तैयार की। कौन-कौन साधु संघ के प्रति वफादार हैं? किस-किसका विरोधी खेमे की ओर झुकाव है? साध्वियों की क्या स्थिति है? श्रावक-श्राविकाओं की क्या भूमिका रहेगी? इत्यादि प्रश्नों को सामने रखकर पूरा सर्वे किया गया। इस प्रसंग में मुनि चौथमलजी, मुनि बुद्धमलजी आदि का भी योगदान रहा, पर मुनि नथमलजी की भूमिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रही।

अभिनंदन उन अभूतपूर्व क्षणों का

संघीय अंतरंग मामलों की बात हो या अन्य विरोधी संप्रदायों की, लेखन का प्रसंग हो या अभिव्यक्ति का, तर्क का प्रसंग हो या समर्पण का, मुनि नथमलजी ने अपने गुरु के कामों में जिस रूप से हाथ बंटाया, साधारण शिष्य बंटा नहीं सकता। यही वह कारण रहा होगा, जिसने मुनि नथमलजी को निकाय-सचिव, महाप्रज्ञ अलंकरण, युवाचार्य आदि भूमिकाओं से ऊपर उठाकर संघ के शीर्ष तक पहुंचा दिया। आचार्य के गरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद भी गुरु के प्रति वही समर्पण, वही विनम्रता और वही सहजता। धन्य हैं ऐसे शिष्य, जो गुरु की हर इच्छा को अपनी इच्छा मानकर उसे आकार देने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। धन्य हैं ऐसे गुरु, जो अपना सब कुछ अपने शिष्य में संप्रेषित कर शिष्य के विकास को देख अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करते हैं। ❑

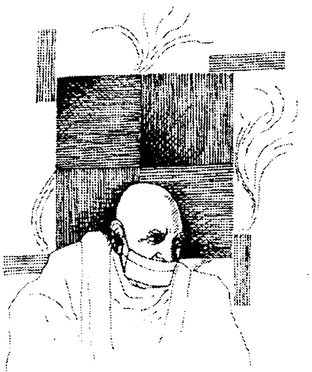

नया दायित्व : नया प्रस्थान

पद विसर्जन की अपूर्व घटना

हजारों-हजारों लोगों ने आश्चर्य के साथ सुना–'आचार्य तुलसी ने आचार्य पद का दायित्व अपने उत्तराधिकारी युवाचार्य में प्रतिष्ठित कर दिया है।' श्वास रोक कर सुना पर विश्वास नहीं हुआ। आचार्य युवाचार्य की नियुक्ति करता है, यह तेरापंथ की परंपरा है किंतु आचार्य अपने अस्तित्व काल में अपने उत्तराधिकारी को आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करे, यह अभिनव आलेख है। अनजाना, अनसुना और अनपढ़ा इसलिए विश्वास न होना आश्चर्य नहीं है। टेलीफोन की हजारों घंटियां बजी और संवाद की सचाई को जानने की उत्सुकता बढ़ गई। आखिर जो हुआ, उसकी पुष्टि हो गई फिर भी मन में प्रश्न की तरंगें उठती रहीं। यह क्यों हुआ? किस अंत:प्रेरणा ने आचार्यवर को ऐसा करने के लिए प्रेरित किया? इन प्रश्नों का उत्तर कोई दूसरा नहीं दे सकता। अनुमान हर कोई कर सकता है पर साक्षात् दर्शन वही करा सकता है, जिसने इस नए पथ पर अपने चरण बढ़ाए हैं।

आचार्यश्री ने जो किया, वह अचिंतित नहीं किया। विशेष उद्देश्य, विशेष हेतु और चिंतन से किया है। उनके चिंतन के सूत्र उन्हीं की भाषा में इस प्रकार हैं–

- मैंने सोचा–तेरापंथ धर्मसंघ का कोई आचार्य इतने लंबे समय (अट्ठावन वर्ष) तक शासन-सत्ता पर नहीं रहा। मैं सबसे अधिक रहा हूं। अब मुझे इससे निवृत्त होकर प्रायोगिक जीवन जीने का अभ्यास करना चाहिए।
- जयाचार्य (तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य) ने शासन-सत्ता से निवृत्त रहने का प्रयोग किया था। उसमें और वर्तमान व्यवस्था में इतना अंतर है कि जयाचार्य ने अपने युवाचार्य मघवा को एक प्रकार से आचार्य ही बना दिया। संघ की सारणा, वारणा, आलोयणा देना आदि कार्य वे ही करते। उससे कुछ नया करने की बात मेरे मन में आई। 'अकडं करिस्सामि'–जो नहीं किया, वह करूं, यह मेरी मनोवृत्ति है। इस ऋषि मनोवृत्ति का उल्लेख अश्वघोष ने इन शब्दों में किया है–**राज्ञां ऋषीणां चरितानि-तानि, कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः**। इस मनोवृत्ति ने मुझे प्रेरित किया–

- मैं अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करूं।
- तेरापंथ के भाग्यविधाता आचार्य भिक्षु और भिक्षु शासन की परम्परा के अनुसार आचार्य अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवाचार्य की नियुक्ति करते हैं और मैंने भी की है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में नहीं देखा। मैं इसे देखना चाहता हूं। इस चाह को मैंने आकार दे दिया।
- मैंने सोचा–अस्सी वर्ष की अवस्था हो गई है। स्वास्थ्य भी अनुकूल नहीं है। विश्राम की अपेक्षा है। शासनसत्ता और अधिकार के बने रहने पर श्रम की अनिवार्यता होती ही है। श्रम कम करना है तो क्यों नहीं इस पद को युवाचार्य में प्रतिष्ठित कर दिया जाए।
- मैंने सोचा–एक शिष्य आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होकर अपने गुरु के प्रति कितना विनम्र हो सकता है, उसका निदर्शन अकृतज्ञ मनोवृत्ति वाले युग के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। 'अणंतनाणोवगमोविसंतो'–इस आगमवाणी की सत्यता को प्रमाणित करना चाहिए।
- मैंने सोचा–मेरे इस कार्य से युग को यह मार्गदर्शन मिल सकता है-एक समय सीमा के बाद पद, सत्ता, अधिकार आदि को किसी दूसरे में प्रतिष्ठित कर स्वयं को हलका जीवन जीना चाहिए।
- एक कल्पना ने जन्म लिया–'मैंने धर्म को निर्विशेषण बना दिया। अणुव्रत धर्म है किन्तु जैन, बौद्ध, वैदिक आदि किसी विशेषण से जुड़ा हुआ नहीं है। निर्विशेषण धर्म का प्रवर्तक स्वयं निर्विशेषण क्यों नहीं बने? 'तुलसी' यह नाम जनता के मन में घुल गया है। अब उसे किसी विशेषण की पीठ पर बिठाने की जरूरत नहीं है।
- मैंने सोचा-पद के बिना भी काम किया जा सकता है। इस धारणा का उज्जीवन होना चाहिए, जिससे कि पद के पीछे दौड़ने की मनोवृत्ति में अंतर आए।
- सत्ता और अधिकार पर रहा व्यक्ति मुक्त बात नहीं कह सकता। सत्ता से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति निःसंकोच अपनी बात जनता के सामने प्रस्तुत कर सकता है।
- आज जैन संप्रदायों में आचार्यों की बाढ़ आ रही है। कहीं शिष्य कम और आचार्य अधिक न हो जाएं। इस समस्या का समाधान है–पद की अपेक्षा साधना का आकर्षण अधिक बढ़े।

  तेरापंथ धर्मसंघ संगठन और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से बहुत विशाल संघ है। पूज्य गुरुदेव के नेतृत्व में समाज, राष्ट्र और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र को कुछ ऐसे कार्यक्रम दिए गए, जो व्यापक हैं, किसी संप्रदाय की सीमा में आबद्ध नहीं हैं। फलतः तेरापंथ के प्रशंसकों और समर्थकों की संख्या अनुयायी वर्ग की संख्या से बहुत अधिक बढ़ी है। गुणवत्ता की दृष्टि से इतने विशाल संघ के दायित्व को अपने शिष्य में वही प्रतिष्ठित कर सकता है, जिसकी चेतना महान्, आध्यात्मिक अनुभूति से ओत-प्रोत तथा द्वैत से अद्वैत की ओर गतिशील है।

पूज्य गुरुदेव के अनुसार संप्रदाय बहुत उपयोगी, बहुत मूल्यवान् और शक्ति का स्रोत है, किंतु अहिंसा अथवा अध्यात्म का क्षेत्र संप्रदाय से बहुत विशाल है। संप्रदाय और धर्म एक नहीं है, यह मंत्र-वाक्य महावीर की वाणी में पढ़ा। आचार्य भिक्षु ने उस मंत्र को आगे बढ़ाया। मानव-मात्र के लिए धर्म का द्वार खोला। पूज्य गुरुदेव ने अणुव्रत के माध्यम से उस मंत्र को व्यापक बना दिया। आचार्य तुलसी : 'इंसानियत का देवता', 'मानवता का मसीहा'–ये लोकमत संप्रदाय के पारदर्शन की प्रतिध्वनियां हैं।

पूज्य गुरुदेव ने निर्णय किया है कि अब वे अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में अधिक काम करेंगे। हिंसा की समस्याओं पर अधिक ध्यान केंद्रित करेंगे। अहिंसा और शांति का क्षेत्र प्रमुख कार्यक्षेत्र होगा। गुरुदेव ने घोषणा की–'मैं अपनी साधना में लगूंगा, मानवता अथवा चरित्र विकास के लिए कार्य करूंगा।' इस घोषणा ने हमारे मानस को आंदोलित किया। अहिंसा और चरित्र विकास के लिए काम किया जाए, यह बहुत प्रसन्नता की बात है, किंतु जिस तेरापंथ धर्मसंघ को छह दशक तक ज्योतिर्मय बनाया और बनाए रखा, वह कभी नहीं चाहता-ज्योति की एक भी रश्मि कम हो। मैंने और मेरे साथ पूरे धर्मसंघ ने अभ्यर्थना के स्वर में कहा–'गुरुदेव! हमारे धर्मसंघ को आपका संरक्षण, छत्रछाया और पथदर्शन बराबर मिलता रहे। इस हार्दिक अनुरोध को स्वीकार कर आप 'गणाधिपति' बने रहने की स्वीकृति दें।'

पूर्व न्यायाधीश श्री सोहनराज कोठारी ने ठीक लिखा है–'गुरुदेव ने सत्ता अपने उत्तराधिकारी में प्रतिष्ठित कर संरक्षण स्वीकार किया तब लगा–राष्ट्रपति राष्ट्रपिता बन गया, शासनाध्यक्ष संरक्षक बन गया।'

जैनेंद्र, आचार्य कृपलानी, हरिभाऊ उपाध्याय आदि दिवंगत आत्माएं भी अपनी चिरपालित आकांक्षा की पूर्ति पर प्रसन्न हुई होंगी। जैनेन्द्रजी की आकांक्षा थी–'आचार्यश्री! आप तीर्थंकर बनें। तीर्थंकर बने बिना मानवता के हितों की संपूर्ति नहीं की जा सकती।'–आचार्य कृपलानी, हरिभाऊ उपाध्याय आदि की आकांक्षा थी–'वर्तमान युग को अध्यात्म की सबसे अधिक जरूरत है। हमारी दृष्टि में आप अध्यात्म का नेतृत्व करने में सक्षम हैं इसलिए आप अपने संघ का दायित्व किसी शिष्य को सौंपकर विश्व हित के लिए अध्यात्म का नेतृत्व स्वीकार करें।'

पूज्य गुरुदेव ने अध्यात्म जगत् का नेतृत्व अपने हाथ में लेकर युगधारा को बदलने की दिशा में नई ऊर्जा का स्रोत उपलब्ध किया है। आपकी वाणी में वह होगा, जिसे सुनने की उत्सुकता जन-जन के मन में होगी।

इस घटना का भविष्य उज्ज्वल होगा, उसके लिए आज भविष्यवाणी करना शीघ्रगामी प्रयत्न होगा। यह बड़े क्षेत्रों में काम करने वाले सभी लोगों के लिए एक प्रभावी बोधपाठ होगा, यह असंदिग्ध भाव से कहा जा सकता है।

ऊर्ध्वारोहण की गाथा

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा–पूज्य गुरुदेव मेरे जीवन-निर्माता और भाग्यविधाता थे। उन्होंने जितना मुझे दिया, उतना किसी गुरु ने अपने शिष्य को दिया हो, यह अन्वेषण का विषय है। उन्होंने अपने शिष्य के बारे में जितना कहा और लिखा, उतना शायद भारतीय इतिहास में किसी गुरु ने अपने शिष्य की ख्याति माना, शिष्य के उत्कर्ष के रूप में स्वीकार किया। उनके आंतरिक उद्गारों में उनकी उदारता, महानता और प्रमोद भावना का पद-पद पर साक्षात्कार होता रहा। उन्होंने न केवल अपनी डायरी में अपने भावोद्गार प्रकट किए अपितु कुछ विशिष्ट प्रसंगों पर आलेख भी लिखे। युवाचार्य मनोनयन और आचार्य पद पर नियुक्ति के संदर्भा में लिखे इन आलेखों में उध्वारोहण की गाथा का सजीव चित्रण है।

'मेरे अंतर्मन के उद्‌गार मैंने जो अपने आचार्यपद का विसर्जन किया है वह वास्तविक विसर्जन है। उसको औपचारिक मानने की भूल कोई न करे। स्वयं आचार्य महाप्रज्ञ तो करे ही नहीं। इससे भविष्य के चिंतन में निश्चिंतता रहेगी। किसी प्रकार का मानसिक संकोच रहा तो वह चिंतन सही नहीं होगा। इसीलिए मेरा पुनः-पुनः आवेदन है, प्रवेदन है, निवेदन है कि संघ के शुभ भविष्य का संपूर्ण दायित्व तुम पर है। महाप्रज्ञ! आप पर है। ये शब्द इसलिए कह रहा हूं–मुझे अनुभव हो रहा है कि कभी-कभी (तुम) आशंकित रहते हो। यह मेरे विसर्जन को दुर्बल बनाता है। इसलिए मानसिक संकल्प करो–मैं अपने दायित्व को गंभीरता से लूंगा और उसी रूप में उसके निर्वहन का नितांत प्रयत्न रखूंगा।

मैं (तुलसी) स्वयं भारहीन और अपने दायित्व से निश्चिंत रहता हुआ संघीय विकास तथा अध्यात्म और अहिंसा को व्यापक बनाने में अपना समुचित श्रम लगाता रहूंगा।

मैं अपने जीवनकाल में महाप्रज्ञ को मेरे से भी अधिक यशस्वी आचार्य देखना चाहता हूं। इसमें मेरा परामर्श और मार्गदर्शन जहां भी जरूरी समझोगे वह निश्चित उपलब्ध रहेगा।

संघ के मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए उसे नया रूप देना, नये इतिहास का निर्माण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य लग रहा है। इसमें अपनी अंतर्दृष्टि और जागृत प्रज्ञा का निस्संकोच प्रयोग करना है। इस मेरे विसर्जन से जो मुझे यश और ख्याति मिली है, उसमें भी मेरे उत्तराधिकारी को मैं सहभागी बनाना चाहता हूं।

तुम अधिक स्वस्थ रहो। क्योंकि जीना जानते हो। जीने की कला तुम्हें प्राप्त है। प्राप्त ही नहीं, उसका सतत उपयोग कर रहे हो। इसीलिए मैं अपनी ओर से शुभाशंसा करता हूं कि तुम स्वस्थ रहो, ताकि हमारा संघ युग-युग तक इस जाग्रत प्रज्ञा का उपयोग कर धन्यता का अनुभव करे और जैन-जैनेतर पूरे मानव समाज का सही पथदर्शन होता रहे। वास्तव में यह दुर्लभ क्षमता हमारे संघ को पूर्वाचार्यों की संचित तपस्या से सहज प्राप्त है। जिसको जितना अच्छा उपयोग हो, मानव जाति का उतना ही भला होगा।

जैन धर्म और उसका समर्थ प्रतिनिधि तेरापंथ हमें विरासत में मिला है। उसके साथ अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान जैसे व्यापक कार्यक्रम भी हमारे हाथ में आए हैं। उनका उपयोग अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रारंभ हो गया है। यह मानवता के शुभ भविष्य का सूचक है। तेरापंथ प्रबोध के इस सूक्त को हमेशा सामने रखो–शुभ भविष्य है सामने। यह आलेख आज-वि.सं. 2051 कार्तिक कृष्णा 3, ईसवी सन् 1994, दिनांक 22 अक्टूबर शनिवार रात्रि के 8.30 बजे अध्यात्म साधना केंद्र के एक प्रकोष्ठ जिसमें महाप्रज्ञ बैठते हैं। मैंने लिखाया।'

शुभं भवतु। **–गणाधिपति तुलसी**

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा : शताब्दी वर्ष

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष के साथ-साथ जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के शताब्दी वर्ष का जुड़ना तेरापंथी महासभा के लिए एक ऐतिहासिक प्रसंग है। इस अवसर पर महासभा अपनी अतीत की उपलब्धियों का संकलन कर, वर्तमान की समीक्षा के साथ भविष्य की नई संभावना पर हस्ताक्षर कर रही है। **जैन भारती** का नवंबर 2013 का यह विशेषांक महासभा शताब्दी वर्ष को समर्पित करते हुए सुधी पाठकों के लिए प्रस्तुत है महासभा से जुड़े विकास के अनेक ज्ञातव्य तथ्य।

स्थापना

28 अक्टूबर, 1913 जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा की कोलकाता में स्थापना।

उद्देश्य :

– तेरापंथ धर्मसंघ व समाज का हित संरक्षण।
– तेरापंथ समाज की विविध गतिविधियों का संचालन, मार्गदर्शन।

तेरापंथ धर्मसंघ के हितों के संरक्षण में महासभा की अहम भूमिका :

– इलाहाबाद की लेजिस्लेटिव काउंसिल में नाबालिग दीक्षा रजिस्ट्रेशन बिल।
– बाल दीक्षा को लेकर बीकानेर स्टेट में पहला बिल, फिर दूसरा -तीसरा बिल।
– जोधपुर की रिजेंसी काउंसिल में बाल दीक्षा प्रतिबंधक बिल।
– बड़ौदा में संन्यास नियामक बिल।
– मेवाड़ में बाल दीक्षा नियंत्रण बिल।
– मध्यभारत धारासभा में बाल दीक्षा विरोधी बिल।
– मुंबई में बाल दीक्षा निरोधक बिल।
– लोकसभा में बाल संन्यास दीक्षा प्रतिबंधक बिल।
– जयपुर भिक्षा अवरोध बिल।
– लोकसभा में साधु-संन्यास दीक्षा प्रतिबंधक बिल।
– सुप्रीम कोर्ट में बाल दीक्षा विरोध में याचिका।
– मुंबई में बेगर्स बिल।
– जयपुर भिक्षा अवरोध बिल।
– जगह-जगह संथारा विवाद।

इन सभी स्थानों में महासभा के अधिकारियों व कार्यकर्ताओं के अथक श्रम, बुद्धिमत्ता, संपर्क एवं विधिवेत्ताओं के माध्यम से सभी अवरोधों को निरस्त कराया। यद्यपि ये सारे प्रयास समस्त जैन समाज को प्रभावित करने वाले थे, पर महासभा की सक्रियता, जागरूकता और समाज के कार्यकर्ताओं की ही सभी प्रसंगों में अहम भूमिका रही। यह वास्तविकता है की महासभा के गठन की पृष्ठभूमि भी ये बिल ही रहे।

- 14 मई 1916 महासभा के अंतर्गत तेरापंथ विद्यालय का प्रारंभ 30/2, क्लाइवस्ट्रीट में हुआ।
- 30 जनवरी 1947 जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के रूप में अभिहित।
- 31 जनवरी 1947 महासभा द्वारा 'समाज भूषण' अलंकरण देने की परंपरा का प्रारंभ। श्री छोगमलजी चौपड़ा (गंगाशहर) प्रथम 'समाज भूषण' अलंकरण से अलंकृत।
- 1 मार्च 1949 महासभा के अंतर्गत 'पारमार्थिक शिक्षण संस्था' की स्थापना।
- 1954-55 महासभा के मूल भवन के सामने खुली पड़ी जमीन पर नये विंग का निर्माण किया गया जिसमें ग्राउंड फ्लोर में 8 दुकानें, एक तल्ले पर 8 कमरे व दो तल्ले पर 9 कमरे हैं।
- 2 मार्च 1950 को महासभा की कार्यकारिणी की मीटिंग 3 पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट में हुई। महासभा के अपने निजी भवन में यह पहली मीटिंग हुई। भवन खरीद करने का भी अपना एक इतिहास रहा है।
- 8 दिसंबर 1956 की मीटिंग में यह तय हुआ कि जैन दर्शन का कोई अध्ययन करे तो उस तेरापंथी भाई को 125/- तक की मासिक छात्रवृत्ति दी जा सकती है। छात्रवृत्ति देने का क्रम यही से शुरू हुआ।
- 14 फरवरी 1959 महासभा अधिवेशन (सैंथिया प. बंगाल) में पहली बार आचार्य श्री तुलसी का उद्बोधन हुआ।
- 13 नवंबर 1961 आचार्य श्री तुलसी के पचीस वर्ष की आचार्यानुशासना के उपलक्ष में 'धवल समारोह' मनाने एवं अभिनंदन ग्रंथ निकालने का निर्णय।
- 31 मई 1980 पारमार्थिक शिक्षण संस्था महासभा से स्वतंत्र। संस्था का स्वतंत्र ट्रस्ट बोर्ड गठित।
- 13 अप्रैल 1986 महासभा द्वारा संपादित किये जा रहे कोलकाता समाज के समस्त कार्य नवनिर्मित जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, कोलकाता को सुपुर्द।
- 9 अगस्त 1986 लाडनूं में महासभा का शाखा कार्यालय खोलने का निर्णय ।
- 6 अक्टूबर 1986 जैन भारती पत्रिका का प्रकाशन लाडनूं कार्यालय से करने का निर्णय।
- 4 फरवरी 1987 महासभा के संविधान में बड़े परिवर्तन।
  - अध्यक्षीय प्रणाली का प्रावधान।
  - स्थानीय सभाओं को महासभा के एफिलियेटेड मेम्बर (सम्बद्ध सदस्य) बनाने का प्रावधान।
  - महासभा में कार्यसमिति के साथ-साथ चल रही सेंट्रल कौंसिल के प्रावधान की समाप्ति।
  - कार्यसमिति की सदस्य संख्या 41 से बढ़ाकर 100 की गई।
  - कार्यसमिति में सदस्य लेने का क्षेत्रवार कोटा निर्धारित।
  - कार्यसमिति में 20 सदस्य एफिलियेटेड सभाओं से लेने का प्रावधान।
  - कार्यसमिति का कार्यकाल एक वर्ष से बढ़ाकर दो वर्ष का करने का प्रावधान।
- सन् 1986-87 से महासभा के पदाधिकारियों की संगठन यात्राओं का प्रारंभ।
- 9 मई 1987 महासभा की स्थापना के 75 वर्ष के अवसर पर महासभा की हीरक जयंती मनाने का निर्णय।

- 27 जून 1987 हीरक जयंती के अवसर पर करणीय कार्यों का निर्धारण–
  - महासभा का 75 वर्षों का इतिहास लेखन।
  - 'समाज भूषण' छोगमलजी चौपड़ा स्मृतिग्रंथ का लेखन व प्रकाशन।
  - आचार्य प्रवर द्वारा संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की व्यवस्थित सूची रखना और प्रतिवर्ष मर्यादा महोत्सव पर उन्हें सम्मानित करना।
  - विविध आयोजन।
- 1 दिसंबर 1988 प्रतिवर्ष तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन करने का निर्णय।
- 6 अक्टूबर 1988 जैन भारती पत्रिका को साप्ताहिक से मासिक पत्रिका करने का निर्णय।
- 1989 विधिवत उपासक प्रशिक्षण का पहला शिविर योगक्षेम वर्ष (1989) में लाडनूं में लगा।
- 10 फरवरी 1989 आचार्यश्री से संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं को अलंकरण पट्ट प्रदान करने का उपक्रम प्रारंभ।
- 24 मार्च 1990 जैन विश्व भारती, लाडनूं के परिसर में महासभा के शाखा कार्यालय भवन 'अभ्युदय' का उद्घाटन।
- 1991 कर्मणा जैन बनाने का दायित्व महासभा को मिला।
- 1991 तेरापंथ समाज की जनगणना करने का दायित्व मिला।
- 12 अप्रैल 1992 ज्ञानशाला का व्यवस्थित प्रारूप बनाने व राष्ट्रीय स्तर पर संचालन का उत्तरदायित्व मिला।
- 1992 तेरापंथ संग्रहालय बनाने का दायित्व भी महासभा को ही सौंपा गया। तेरापंथ के इतिहास की बिखरी सामग्री को संग्रहित, सुरक्षित एवं व्यवस्थित करने की दृष्टि से एवं आचार्य प्रवर को भेंट में प्राप्त सामग्री भी इसी संग्रहालय में रहे, यही मुख्य उद्देश्य था।

  चार वर्षों के अथक श्रम से 18 स्टील की अलमारियों में ऐसी सामग्री को संग्रहित व सुरक्षित कर लिया गया। संग्रहालय के भवन के निर्माण का जैन विश्व भारती परिसर में स्थान भी तय हो गया व मॉडल भी बनकर आ गया, पर वह कार्य कतिपय कारणों से आगे नहीं बढ़ सका। यद्यपि यह गुरुदेव श्रीतुलसी का स्वप्न था।
- 1992 में उपासक श्रेणी का समग्र दायित्व महासभा को सौंपा गया। पर्युषण पर्व पर उपासक ग्रुप को भेजने का बाद में प्रारंभ। इस वर्ष शताधिक ग्रुप बन गये।
- 1992 में देश भर की सभाओं से संपर्क, उन्हें करणीय कार्यों का निर्देशन और महासभा की गतिविधियों की जानकारी देने हेतु 'अभ्युदय' परिपत्र का द्वैमासिक प्रकाशन प्रारंभ।
- 22 मई में 1993 से 1 जून 1993 तक ज्ञानशाला प्रशिक्षक प्रशिक्षण शिविरों का प्रारंभ।
- 1994 में जैन समाज की समस्त पत्र पत्रिकाओं में (संख्या 350) जैन भारती का 'सर्वश्रेष्ठ पत्रिका' के रूप में मुंबई में चयन।

जैन भारती के विशेषांकों का प्रकाशन

❑ भिक्षु चेतना विशेषांक ❑ वीतराग वंदना विशेषांक ❑ आचार्य तुलसी श्रद्धांजलि विशेषांक

❑ युवाचार्य महाश्रमण मनोनयन विशेषांक ❑ अनेकांत विशेषांक ❑ अहिंसा विशेषांक आदि कई महत्त्वपूर्ण प्रासंगिक विशेष अंक।

- 1993-94 में भवन के पंडाल में फाल्ससिलिंग व उसके चारों ओर स्लाइडिंग डोर लगे जिससे इसकी भव्यता में चार चांद लग गये।
- 1998 में ज्ञानशाला प्रशिक्षक प्रशिक्षण के लिए आंचलिक शिविरों का क्रम प्रारंभ।
- 30 दिसंबर 2001 में महासभा भवन में तीन लिफ्टों का शिलान्यास हुआ। बाद में यथा समय ये लिफ्ट लगकर जन-जन के लिए सुविधाजनक बन गईं।
- 15 अगस्त 2003 में श्रेष्ठ सभा पुरस्कार एवं सभा प्रोत्साहन पुरस्कार की स्थापना।
- 20 अगस्त 2004 में महासभा को ISO 9001: 2000 प्रमाण पत्र की प्राप्ति।
- 2004 में पुस्तकालय को नवीनीकृत कर भिक्षु ग्रंथागार का निर्माण हुआ एवं तीन कक्षों के साथ पूरी पहली मंजिल को नवीनीकृत एवं सुसज्जित किया गया।
- 2006 में मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना-तेरापंथ के प्रतिभाशाली एवं जरूरतमंद छात्र-छात्राओं को सहयोग एवं प्रोत्साहन की दृष्टि से इस उपक्रम की शुरुआत की गई।
- 2010 में राष्ट्रीय संस्कार निर्माण शिविर आयोजना-समाज के छात्र-छात्राओं को सुसंस्कारित करने की दृष्टि से आचार्यप्रवर के सान्निध्य में देशभर से समागत छात्र-छात्राओं को संस्कारित करने का प्रतिवर्ष आयोजन।

अग्नि परीक्षा प्रकरण

- 1970 – आचार्यश्री तुलसी के रायपुर चातुर्मास में आचार्यश्री द्वारा लिखित 'अग्नि परीक्षा' पुस्तक को आधार बनाकर निहित स्वार्थी लोगों द्वारा भयंकर विरोध का प्रारंभ।
  - विरोधियों के तथाकथित संतों एवं महन्त के भड़काऊ भाषणों से पूरे शहर में तेरापंथ समाज के विरुद्ध भयंकर स्थिति का निर्माण।
  - प्रवचन पंडाल जला दिया गया। साध्वियों के ठिकाने में आग लगाने के प्रयास।
  - मध्यप्रदेश प्रशासन द्वारा 'अग्नि परीक्षा' पुस्तक जब्त करने का आदेश।
  - हर प्रकार की स्थिति का सामना करने के लिए महासभा के कार्यकर्ताओं की सक्रिय एवं कार्यकारी भूमिका।
  - जबलपुर हाईकोर्ट में पुस्तक जब्ती के विरुद्ध महासभा द्वारा याचिका दायर।
  - 24 नवंबर 1970 को हाईकोर्ट द्वारा मध्यप्रदेश सरकार द्वारा अग्नि परीक्षा पुस्तक जब्ती के आदेश को अवैधानिक एवं अवांछनीय बताया।
- 1972 – आचार्यश्री के चूरू चातुर्मास में अग्नि परीक्षा पुस्तक को लेकर निहित स्वार्थी तत्त्वों द्वारा विरोध का प्रारंभ। पूरे जिले में आचार्यश्री तुलसी, तेरापंथ समाज के व्यक्तियों के विरुद्ध भयंकर विष वमन एवं उपद्रव शुरू।
  - श्री जयप्रकाशनारायण का चूरू आगमन। संपूर्ण स्थिति का आकलन किया गया।
  - जयप्रकाश बाबू के अनुरोध पर आचार्य प्रवर ने अहिंसा एवं सद्भावना की दृष्टि से पुस्तक को सदा-सदा के लिए वापस लेने की घोषणा की। इस प्रकार एक दुःखद घटना प्रसंग का सदैव के लिए पटाक्षेप हो गया।
  - यहां भी महासभा के अधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में देशभर से आये श्रावकों ने एवं समाज के विशिष्ट व्यक्तित्वों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

विशिष्ट आयोजन

- तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह का आयोजन केलवा एवं राजनगर में दिनांक 11-06-1960।
- गंगाशहर में आचार्य श्री तुलसी का धवल समारोह।
- आचार्य तुलसी अभिनंदन ग्रंथ भारत के उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् द्वारा आचार्यश्री को भेंट।
- आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी समारोह का आयोजन।
- आचार्यश्री महाश्रमण अमृत महोत्सव कार्यक्रमों का आयोजन।
- आचार्यश्री महाश्रमण अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन।
- आचार्यश्री महाप्रज्ञ समाधि स्थल (सरदारशहर) का निर्माण।

साहित्य प्रकाशन

- महासभा का प्रथम प्रकाशन सन् 1917 में सामने आया। पुस्तक का नाम था–जैन तत्त्व प्रकाश (प्रथम भाग)
- तब से लेकर अब तक लगभग 200 पुस्तकें महासभा द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें कई हिन्दी पुस्तकों के अंग्रेजी भाषा में अनूदित प्रकाशन भी शामिल हैं।

विभिन्न उपक्रम

- समाज भूषण छोगमलजी चौपड़ा शिक्षा कोष से छात्र-छात्राओं को शिक्षावृत्ति।
- अहिंसा यात्रा के विभिन्न आयामों की व्यवस्थाओं में महासभा की सहभागिता।
- महासभा भवन में होमियोपैथिक डिस्पेंसरी का युवक परिषद् के सहयोग से संचालन।

महासभा एवं तेरापंथ विद्यालय विवाद

महासभा एवं तेरापंथ विद्यालय यद्यपि प्रारंभ से ही तेरापंथ समाज की महत्त्वपूर्ण गतिविधियों के संचालक एवं शिक्षा के केंद्र रहे हैं। दोनों संस्थाएं स्थापना से ही एक डोर से बंधी हुई थी, पर महासभा भवन को लेकर बाद में आपस में विभिन्न मुद्दों पर गहरा तनाव बन गया। कई बार विवाद कोर्ट कचहरी तक भी पहुंच गये। न केवल कोलकाता समाज के लिए अपितु पूज्यवरों एवं देश भर में फैले श्रावक समाज के लिए भी चिंता की स्थिति बन गई। समझौते के अनेक प्रयास किये गये, पर सारे प्रयत्न विफल रहे।

- दोनों विशिष्ट संस्थाओं के बीच प्रलंब काल तक चले इस विवाद का पटाक्षेप आखिर सन् 2002 में हुआ। महासभा भवन की संपूर्ण मिल्कीयत महासभा की है। यह निर्णय कोर्ट से पहले ही हो चुका था। अब सौहार्दपूर्ण वातावरण में दोनों विशिष्ट संस्थाएं अपनी-अपनी गतिविधियों का संचालन कर रही हैं।

आचार्य श्री तुलसी जन्म शताब्दी समारोह (सन् 2013-14) की सर्वांगीण समायोजना का उत्तरदायित्व समाज की सर्वोच्च संस्था जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा को मिला। स्वयं महासभा के जन्म शताब्दी वर्ष में महासभा के गौरवपूर्ण इतिहास का यह स्वर्णिम अध्याय बन गया। परम पूज्य आचार्यश्री महाश्रमणजी के पुनीत सान्निध्य एवं आध्यात्मिक मार्गदर्शन में महासभा द्वारा आचार्य तुलसी जन्मशताब्दी समारोह समिति का गठन किया गया।

महासभा शताब्दी वर्ष में प्रस्तावित कार्य योजनाएं

तेरापंथ धर्मसंघ एवं समाज के विकास के लिए महासभा द्वारा अपनी स्थापना काल से लेकर अब तक अनेक उल्लेखनीय कार्य किए गए हैं। सार्थक समाज सेवा का इसका लम्बा इतिहास रहा है जिसमें अनेक महिमा-मंडित पृष्ठ जुड़े हुए हैं। विकास की दृष्टि से अनेक गतिविधियां इसके द्वारा संचालित की जा रही हैं।

महासभा शताब्दी समारोह के वर्ष पर्यंत चलनेवाले कार्यक्रमों द्वारा इस अवधि में अनेक नव-उन्मेषों के माध्यम से छोटी एवं आर्थिक संसाधनों की अपेक्षावाली सभाओं के संरक्षण एवं साहित्यिक रूप से संघीय साहित्य के साथ उन्हें समृद्ध करना। इस अवधि में अनेक समाजोपयोगी प्रकल्प भी समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना।

महासभा शताब्दी वर्ष के आगामी कार्यक्रमों में समाज के विशिष्ट पदाधिकारियों एवं समाज की विभूतियों के सम्मान में कार्यक्रम का आयोजन।

आचार्य तुलसी शताब्दी समारोह एवं महासभा शताब्दी वर्ष के पावन प्रसंग पर तेरापंथ धर्मसंघ एवं उनके आचार्यों के अवदानों को और अधिक स्थायित्व के साथ प्रचार-प्रसार हेतु, तेरापंथ धर्मसंघ एवं सर्व समाज की दूरगामी अपेक्षाओं को समझते हुए भारत के विभिन्न सुदूर क्षेत्रों में निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत 100 तेरापंथ भवनों के निर्माण के एक महत्त्वपूर्ण प्रकल्प की शुरुआत।

जिन क्षेत्रों में 13 से 35 तेरापंथी परिवार तक प्रवासित हैं वहां पर सभा भवन निर्माण की योजना है। इसकी लगभग 51 लाख रुपये लागत आयेगी। इसके लिए कम से कम 4000 वर्ग फुट जमीन उस क्षेत्र के श्रावक या श्रावक समाज को उपलब्ध करानी होगी। साथ ही कम से कम 11 लाख का अनुदान महासभा को देय होगा। सभा भवन का निर्माण महासभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार होगा।

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी समारोह

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष की परिकल्पना आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पावन सान्निध्य में प्रारंभ हुई थी। समय-समय पर विभिन्न गोष्ठियों के माध्यम से कार्ययोजना का निर्धारण होता गया। महासभा के पूर्व अध्यक्ष श्रीमान् जसकरण चौपड़ा व श्री चैनरूप चिण्डालिया ने अपने उर्वर चिंतन से इस कार्य को संपादित करने के लिए विभिन्न परिकल्पनाओं को परियोजनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने यह घोषणा की थी कि आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष की संयोजना का दायित्व जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा वहन करेगी। श्री हीरालाल मालू, महासभा अध्यक्ष ने आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष का संयोजकीय दायित्व भी कार्यसमिति की बैठक के सर्वसम्मति से स्वीकृत निर्णय को स्वीकार किया। संयोजकीय दायित्व स्वीकार करने के पश्चात् श्री हीरालाल मालू ने परम श्रद्धेय आचार्य श्री महाश्रमणजी के पावन सान्निध्य में आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी समारोह समिति का गठन किया जिसमें लगभग सौ सदस्य हैं। इस समिति की प्रतिमाह निर्धारित तारीख पर पूज्य आचार्यप्रवर की सन्निधि में गोष्ठी होती है। प्रतिमाह निर्धारित तिथि पर उपस्थित होकर विभिन्न परियोजनाओं को 'व्यक्तित्व निर्माण प्रकल्प परिषद्' में प्रस्तुत किया जाता है। समिति द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत परियोजनायें निम्न हैं–

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी समारोह संयोजना : निर्धारित परियोजना

- तेरापंथ धर्मसंघ में 100 मुनि दीक्षाएं
- अणुव्रती बनाने का राष्ट्रव्यापी अभियान
- अणुव्रत प्रचेताओं का निर्माण
- अणुव्रत के संदर्भ में मासिक संगोष्ठी का आयोजन
- अणुव्रत पर अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन
- राष्ट्रव्यापी अणुव्रत संकल्प यात्रा
- विद्यालयों में अणुव्रत नियमावली का आलेखन
- विराट अभिनव सामायिक का आयोजन
- आचार्य तुलसी के संपूर्ण साहित्य का तुलसी वाङ्मय के रूप में व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण
- आचार्य तुलसी की चयनित कृतियों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद
- आचार्य तुलसी स्मृति ग्रंथ का निर्माण
- आचार्य तुलसी महाकाव्यम् का संपादन
- आचार्य तुलसी पर एनिमेशन फिल्म
- आचार्य तुलसी के ऐतिहासिक चित्रों की दीर्घा
- आचार्य तुलसी की जन्मभूमि लाडनूं में आचार्य तुलसी नगरद्वार का निर्माण
- विभिन्न नगरों में आचार्य तुलसी चौक, आचार्य तुलसी मार्ग नामकरण
- अनेक नगरों में तेरापंथ भवनों का निर्माण
- प्रचार-प्रसार के लिए मीडिया प्रबंधन

शुभारंभ : कार्तिक शुक्ला 2 वि.सं. 2070, 5 नवंबर 2013

समापन : कार्तिक शुक्ला 2 वि.सं. 2071, 25 अक्टूबर 2014

पावन पथदर्शन : तेरापंथ के 11वें अनुशास्ता आचार्य श्री महाश्रमण

चरण	दिनांक	तिथि .	स्थान
प्रथम	5 नवंबर 2013	कार्तिक शुक्ला द्वितीया, वि.सं. 2070	लाडनूं
द्वितीय	5 फरवरी 2014	माघ शुक्ला षष्ठी, वि.सं. 2070	गंगाशहर
तृतीय	7 सितंबर 2014	भाद्रपद शुक्ला नवमी, वि.सं. 2071	दिल्ली
चतुर्थ	25 अक्टूबर 2014	कार्तिक शुक्ला द्वितीया, वि.सं. 2071	दिल्ली

महासभा के अध्यक्ष एवं कार्यकाल

क्र.सं.	नाम	कार्यकाल
1.	श्री कालूराम धाड़ेवा	1913
2.	श्री रिधकरन सुराना	1914 से 1918
3.	श्री तोलाराम सुराना	1919 से 1924
4.	श्री रायचन्द सुराना	1925 से 1929
5.	श्री ईश्वरचन्द चौपड़ा	1930, 1935, 1940
6.	श्री वृद्धिचन्द गोठी	1931 से 1934, 1936 से 1939, 1941 से 1943
7.	श्री छोगमल चौपड़ा	1944 से 1957
8.	श्री मदनचन्द गोठी	1958
9.	श्री नेमचन्द गधैया	1959 से 1960
10.	श्री जब्बरमल भंडारी	1961 से 1963, 1967
11.	श्री मोहनलाल कठोतिया	1964
12.	श्री श्रीचन्द रामपुरिया	1965 से 1966
13.	श्री हनुमानमल बैंगानी	1968 से 1969, 1971
14.	श्री हणूतमल सुराणा	1970 (फरवरी 1970 से अप्रैल 1970 तक)
15.	श्री मोहनलाल बांठिया	1970 (मई 1970 से जनवरी 1971 तक)
16.	श्री रामचन्द्र सिंघी	1972
17.	श्री सन्तोकचन्द बरड़िया	1973
	(कोर्ट केस के चलते प्रायः पदाधिकारी निरस्त	1975 से 1978)
18.	श्री रतनलाल रामपुरिया	1974, 1980
19.	श्री तोलाराम दूगड़	1979
20.	श्री उत्तमचन्द सेठिया	1981
21.	श्री खेमचन्द सेठिया	1982 से 1983
22.	श्री विजय सिंह सुराना	1984 से 1986
23.	श्री कन्हैयालाल छाजेड़	1986 से 1996
24.	श्री भंवरलाल डागा	1996 से 2002
25.	श्री सुरेन्द्र चोरड़िया	2002 से 2006
26.	श्री राजकरन सिरोहिया	2006 से 2008
27.	श्री जसकरन चौपड़ा	2008-2010
28.	श्री चैनरूप चिण्डालिया	2010 से 2012
29.	श्री हीरालाल मालू	2012 से ......

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

महासभा के चीफ ट्रस्टी एवं कार्यकाल

क्र.सं.	नाम	कार्यकाल
1.	श्री चैनरूप सम्पतराम दुगड़	1913 से 1929
2.	श्री हजारीमल रामपुरिया	1930
3.	श्री तिलोकचन्द सुराणा	1931
4.	श्री गणेशदास गधैया	1932
5.	श्री पूरनचन्द चोपड़ा	1933 से 1934
6.	श्री हरखचन्द भादानी	1935
7.	श्री रामलाल गोठी	1936
8.	श्री हरकचन्द दुगड़	1937
9.	श्री दानचन्द चोपड़ा	1938
10.	श्री जयचन्दलाल पुगलिया	1939
11.	श्री वृद्धिचन्द गोठी	1940
12.	श्री ईश्वरचन्द चौपड़ा	1941
13.	श्री सदासुख दुगड़	1942 से 1944
14.	श्री फतेहचन्द चौपड़ा	1945
15.	श्री चन्दनमल बैंगानी	1946, 1957 से 1960, 1964 से 1966
16.	श्री आसकरण सेठिया	1947
17.	श्री मदनचन्द गोठी	1948
18.	श्री तेजमल चौपड़ा	1949
19.	श्री छगनमल चौपड़ा	1950
20.	श्री डालिमचन्द सेठिया	1951

क्र.सं.	नाम	कार्यकाल
21.	श्री हड़मानमल बांठिया	1952 से 1953, 1955 से 1956
22.	श्री गजानन्द सरावगी	1954
23.	श्री मोहनलाल बांठिया	1961 से 1963
24.	श्री रामकुमार सरावगी	1967 से 1969
25.	श्री कन्हैयालाल घोड़ावत	1970 से 1971
26.	श्री प्रेमचन्द चौपड़ा	1972
27.	श्री विजयसिंह सुराणा	1973, 1980
28.	श्री पूनमचन्द चोरड़िया	1974
29.	श्रीचन्द रामपुरिया	1979
30.	श्री हणुतमल बांठिया	1981
31.	श्री जब्बरमल दुगड़	1982
32.	श्री रतनलाल रामपुरिया	1983
33.	श्री श्रीचन्द नाहटा	1984 से 1985
34.	श्री शिवचन्दराम डाबड़ीवाल	1986
35.	श्री खेमचन्द सेठिया	1987 से 1995
36.	श्री भोजराज बैद	1996 से 1999
37.	श्री माणकचन्द नाहटा	2000 से 2001
38.	श्री रणजीत सिंह कोठारी	2002 से 2005
39.	श्री जसकरण चौपड़ा	2006-से 2008
40.	श्री चैनरूप चिण्डालिया	2008 से 2010
41.	श्री राजेन्द्र बच्छावत	2010 से 2012
42.	श्री कमल दुगड़	2012 से ......

महासभा के महामंत्री एवं कार्यकाल

क्र.सं.	नाम	कार्यकाल
1.	श्री केसरीचन्द कोठारी	1913 से 1924
2.	श्री छोगमल चौपड़ा	1925 से 1943
3.	श्री श्रीचन्द रामपुरिया	1944 से 1955, 1967
4.	श्री मोहनलाल बांठिया	1956 से 1959
5.	श्री खेमकरण भूतोड़िया	1960
6.	श्री जेठमल भंसाली	1961 से 1963
7.	श्री खेमचन्द सेठिया	1964 से 1966, 1968 से 1969, 1971
8.	श्री केवलचन्द नाहटा	1970, 1980
9.	श्री गुलाबचन्द चंडालिया	1972
10.	श्री कन्हैयालाल दूगड़	1973
11.	श्री श्रीचन्द डागा	1974
12.	श्री हंसराज सेठिया	1979
13.	श्री जंवरीमल बैंगानी	1981
14.	श्री भंवरलाल बेगवानी	1982 से 1984, 1986 से 1992
15.	श्री नवरतनमल सुराना	1984 से 1986
16.	श्री मूलचन्द डागा	1992 से 1996
17.	श्री भंवरलाल सिंघी	1996 से 2002, 2010 से 2012
18.	श्री तरुण सेठिया	2002 से 2008
19.	श्री बिनोद कुमार चोरड़िया	2008 से 2010, 2012 से ....

महासभा संबंधी विशेष ज्ञातव्य तथ्यों का संकलन महासभा के इतिहास पुस्तक पर आधारित है। इस संकलन एवं संयोजन में शासनसेवी, विकास परिषद के संयोजक, महासभा के पूर्व अध्यक्ष श्रीमान कन्हैयालालजी छाजेड़ ने इसमें श्रम, शक्ति और समय को संयोजित किया है। [एतदर्थ आभार ज्ञापन।]

जैन भारती के नवंबर 2013 के अंक को (आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में) पठनीय एवं संग्रहणीय बनाने में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एवं साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी द्वारा लिखित आलेखों के अंशों का साभार प्रयोग किया है।

पद-रज सीस चढ़ाय

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

SMT MACHINES

I N F R A S T R U C T U R E

- In-House third party inspection facility.
- SMT has three manufacturing units.
- SMT has more than 150 Heavy and Precise machine out of which about 60 machines are imported from Europe, efforts to deliver the best and on time.
- All the designing is done on 3D Autodesk Inventor software's by our experienced engineers
- SMT has taken initiative to provide Operating and Instruction Manual with most of the machines integrated by Oracles ERP Software, dedicating ourselves to professionalism committed for the Best of the After Sale Services and lot more.

Turnkey Project Experts in Total Steel Making

Apart from regular products, we provides-Certified TMT Quenching Box, Automatic and Skid Type transfer cooling Beds, Twin Channels, Eden Borne Type Coiler, Flying & Dividing Shears, Cobble Shears, Section Straightening Machine, Repeaters Roller Conyeyors, Tilting & Y Table, Snap Shears etc.

SMT

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

An ISO 9001:2000 Co., An ISO 14001 : 2004 Co., An ISO 18001: 2007 Co.
D & B Ranked SE 2A Unit, Govt of India Recognized Export House
G.T.Road Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh - 147301,
INDIA, Mob : + 91-93577 55555
Tel : + 91- 1765 256337, 257742, Fax : 255199
e- mail : info@smtmachinesindia.org, info@smtsteelmills.com
Web : www.smtmachinesindia.org. www.smtsteelmills.com

Fine Strokes (09866291098)

जैन भारती, नवम्बर, 2013 ■ प्रेषण दिनांक 28 अक्टूबर, 2013
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन

बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन

बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन

बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।